

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 5 अंक : 19, जुलाई- सितम्बर 2018

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्ताचल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच

इस पार तक...



गोपालदास नीरज

(४ जनवरी १९२५-१९ जुलाई २०१८)

गीतिका

खुशबू सी आ रही है इधर ज़ाफ़रान की
खिड़की खुली है फिर कोई उनके मकान की।

हारे हुए परिन्दे जरा उड़के देख तो
आ जायेगी ज़मीन पे' छत आसमान की।

बुझ जाये सरेशाम ही जैसे कोई चिराग़
कुछ यूँ है शुरूआत मेरी दास्तान की।

ज्यों लूट लें कहार ही दुलहिन की पालकी
हालत यही है आजकल हिन्दोस्तान की।

औरों के घर की धूप उसे क्यों पसन्द हो
बेची हो जिसने रोशनी अपने मकान की।

जुल्फ़ों के पेचो-खम में उसे मत तलाशिये
ये शायरी जुबाँ हैं किसी बेजुबान की।

'नीरज' से बढ़के और धनी कौन है यहाँ
उसके हृदय में पीर है सारे जहान की।

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-५, अंक- १९, जुलाई-सितम्बर २०१८

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : आनंद प्रसाद नोनिया
कला सम्पादक : सुभागता श्रीवास्तव

अमरुत पद अलैतनिक

व्यवस्थापन :

हेमंत सिंह, परमजीत कुमार पंडित, विनीता लाल, संदीप प्रसाद, जीवन सिंह, पूजा प्रसाद, विद्या रजक।

विशेष सहयोग :

प्रो. मनीषा झा : उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग
प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी: विश्व भारती, शांतिनिकेतन
डॉ. शुभा उपाध्याय: खुदीराम बोस कॉलेज, कोलकाता
निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
सुलेखा कुमारी : विद्यासागर कॉलेज, कोलकाता
डॉ. पुनीत कुमार राय: शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़, छत्तीसगढ़
राजीव रंजन : अरुणाचल विश्वविद्यालय, अरुणाचल
डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल

संपर्क: 0332675 1686, 098314 97320

ई-मेल : muktanchalquarterly2014@gmail.com
sinhameera48@gmail.com

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन के
लिए सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) में भेजें।

मुक्तांचल A/c- 50200014076551
HDFC BANK, BURRABAZAR,
KOLKATA- 700007
IFSC CODE- HDFC0000219

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कोलकाता-700 009

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

अवस्थिति

शो ध	<u>संस्तुति</u>	
	<u>आलेख</u>	
स मी क्ष ण	07	गंगा प्रसाद विमल : भारतीय व एशियाई भाषिक संसार और हिन्दी
	19	डॉ. अमरनाथ : हिन्दी आन्दोलन के भटकाव
	29	ऋषिकेश राय : सभ्यताओं का द्वन्द और भारतीय मनीषा
सृ ज न	<u>अनुशीलन</u>	
	35	डॉ. हरeram पाठक : सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं असम का भक्ति आन्दोलन
	41	पूनम सिंह : एकमुश्त बहुबचन है नागार्जुन की कविताएँ
	44	डॉ. पंकज साहा : हिन्दी साहित्य में अलिक्षित : हंस कुमार तिवारी
सं चा र	<u>विमर्श</u>	
	47	श्रीनारायण पाण्डेय : संस्कृति का साहित्यिक विमर्श
	51	डॉ. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' : चॉम्स्की और भर्तृहरि का व्याकरण : तुलनात्मक सन्दर्भ
	56	सुधीर रंजन सिंह : आज की कविता और भाषा
	<u>अन्तःपाठ</u>	
	60	रविभूषण : विश्वास और स्वप्न भंग : 'डिप्टी कलकटरी'
	67	अरविन्द कुमार : मारे गये गुलफाम उर्फ तीसरी कसम
	<u>यात्रा -वृत्तान्त</u>	
	72	विनोद साव : ओमान की खाड़ी में हिन्दी बोलते बतियाते हुए
	<u>समय की शिला पर</u>	
	80	एकान्त श्रीवास्तव : बढई, कुम्हार और कवि

शोध	<u>कविता</u>	
	85 ज़हीर कुरैशी	: गज़ल
	87 निशान्त	: समय की चिट्ठियाँ, धीरज और हम, सम्भावनवादी
समीक्षा	88 डॉ. निधि अग्रवाल	: वह नदी, धुन्ध
	89 वन्दना गुप्ता	: प्रश्नचिन्ह चौराहों के, मेरे साथ चलो
	90 दयानन्द चौरसिया	: स्वतंत्र हर एक प्राणी रहना चाहता है, ऐ मुसाफिर
क्षण	<u>सरगम के सुर साथे</u>	
	91 नरेन्द्र मोहन	: अन्दर लावा, ऊपर बर्फ़ : रचना-प्रक्रिया का संदर्भ
	<u>कहानी</u>	
सृजन	96 राजगोपाल वर्मा	: क्षितिज के पार
	103 हरभजन सिंह मेहरोत्रा	: कौन जाने पीर पराई
	109 अमित अहमद	: कागज की थैलियाँ
संचार	<u>प्रवासी कलम</u>	
	113 डॉ. आरती 'लोकेश' गोयल	: इच्छा-मृत्यु, नंग-धड़ंग बच्चे
	<u>पुस्तकायन</u>	
संसार	117 तरसेम गुजराल	: कभी न भूल पायेंगे गोर्की, प्रेमचन्द और लुशून
	<u>व्याख्यान अंश</u>	
	124 डॉ. अरूण कुमार	: प्रेमचन्द पर एक नजर
संसार	<u>गतिविधियाँ</u>	
	127 मृत्युञ्जय पाण्डेय	: पंकज मित्र का कहानी पाठ
	127 परमजीत पंडित	: प्रेमचन्द परिचर्चा

संस्तुति

इस अंक में हिंदी भाषा को विशेष रूप से केन्द्रित किया गया है। १४ सितम्बर से शुरू होने वाले हिंदी पखवारे में बहुत सारी बातें हिंदी भाषा और साहित्य को लेकर होंगी। इसी अवसर पर 'मुक्तांचल' का यह अंक हिंदी से सम्बद्ध कुछ विमर्शों को लेकर उपस्थित हुआ है।

मनुष्य मात्र की सबसे विश्वसनीय सहचर उसकी भाषा होती है। व्यक्ति हो या समाज अपनी भाषा में वह अपनी सम्पूर्णता को सहज ही उतार पाता है। सोच, संवेदना, और संस्कृति को जो अभिव्यक्ति देती है वह भाषा ही होती है। भाषा अबाध है, बगैर किसी प्रयास के भी उसकी निरन्तरता कभी बाधित नहीं होती, वह हवा की तरह, पानी की तरह प्रवहमान रहती है। प्रत्येक भाषा अपना एक 'लोक' लिए हुए होती है, जिसे हम गहते हैं और गहरे उतरते हैं और इसी प्रक्रिया में हमारी मुलाकात उस भाषा विशेष के साहित्य से होती है। साहित्य सायास होता है, भाषा में उसके बनने और गठने की एक प्रक्रिया विशेष होती है, अर्थात् भाषा की निर्मिति उसका साहित्य है जो उसे विशिष्ट बनाता है। जातीय संस्कृति का खजाना उसकी भाषा के साहित्य में संग्रहित होता रहता है।

हिंदी भाषा का साहित्य अपनी गौरवशाली परम्परा से काफी समृद्ध रहा है। सैकड़ों सालों से चली आ रही हिंदी भाषा की अक्षुण्ण धारा अपनी सामासिकता के लिए पहचानी जाती है। सामासिक संस्कृति हिंदी साहित्य की देन है। जैसे हिंद महासागर में हिन्दुस्तान की सारी नदियाँ आकर जुड़ती हैं वैसे ही हिंदी भाषा का साहित्य भी ऐसा ही एक महासागर है जिसमें इतिहास और संस्कृति 'लोक' और 'शास्त्र' सभी अभिन्न रूप से जुड़ते हैं। भिन्न भाषाओं और बोलियों का मिला-जुला संसार हिंदी भाषा के 'लोक' में बड़े आराम से विचरण करता है। उत्तर से लेकर दक्षिण और पूरब से लेकर पश्चिम तक को एक सूत्र में बाँधने वाली भाषा हिंदी ही है।

इक्कीसवीं सदी के पायदान पर चलते हुए कुछ-कुछ ऐसे बदलाव भी नज़र आ रहे हैं जो भाषा की दुनियाँ को प्रदूषित करने के लिए पर्याप्त हैं। सत्ता एवं वर्चस्व की ललक मनुष्य मात्र में अनर्गलता का संसार रचती है। आज का मनुष्य भी अपनी भाषा की दुनियाँ में संवेदनशील नहीं रहा है, वह या तो सत्ता की भाषा का अंधानुकरण करता है या डरकर अन्तर्मुखता का शिकार होता है। दोनों ही स्थितियाँ उसे सहित्य से दूर ले जाती हैं, क्योंकि वह 'सोच' और 'संवेदना' दोनों से ही दूर होता जाता है। भाषा अक्रामक हो या कुण्ठित साहित्य का निर्माण नहीं कर सकती, सृजन के संसार में नया रंग नहीं भर सकती। आज जब हर तरफ ललकार है, अविश्वास है, षड्यन्त्र है और हवा में उड़ने वाली अफवाह जीवन शैली में भर दी गई है, सुविधा की धुंध में भ्रम से निर्मित सृजन गायब है। आज श्रम की कसौटी खत्म होती जा रही है। आसान रास्ते से गुजर कर लोग अपनी-अपनी दुनियाँ की डिबिया में रोशनी भरे बैठे हैं और बाहर घोर अंधेरा है। एक दूसरे से मिलने के लिए भी हमें अंधेरा चीड़ना है, अपने अन्दर की रोशनी को बाहर की दुनिया तक ले जाना है तभी भाषा साहित्य और समाज में बदलाव आयेगा।


संपादक

भारतीय व एशियाई भाषिक संसार और हिन्दी

गंगा प्रसाद विमल

हमारी भाषाओं का सृजनात्मक साहित्य कमाल का साहित्य है। उसमें हम अपनी बीती हुई दुनिया ही नहीं देखते बल्कि उसमें भविष्य की सूचनाओं के भी अनेक संकेत मिलते हैं। इन संकेतों को हम भाषिक संदेशों के रूप में भी विकसित कर सकते हैं व अपनी साहित्यिक परंपराओं में उन्हें अस्तित्वमय देख सकते हैं।

प्रमुख आवश्यकता इस तथ्य में छिपी है कि हमारा पारंपरिक लेखन केवल प्राचीन का ही संरक्षण नहीं है अपितु वह भाषा द्वारा समग्र जीवन के विभिन्न अनुभवों का संग्रथित संचयन भी है और आवश्यकता पड़ने पर हम भाषिक आधार से ही उसे उसकी समग्रता में समझ भी सकते हैं व अपनी भावी आवश्यकताओं के अनुसार भाषा की कलात्मकता में छिपे संकेतों से उनकी नई व्याख्याएँ भी कर सकते हैं अर्थात् भाषाओं का परिज्ञान केवल एकार्थी सत्य नहीं है इसलिए कि कोई भी भाषा मात्र एकार्थी नहीं होती है जैसा हमने सांकेतिक रूप से कहा है कि भाषाओं के भीतर हमारा अतीत ही नहीं है अपितु उसकी संरचनात्मक बुनियाद के भीतर वह शक्ति स्वतः उपलब्ध है जो हमें सृजनात्मक उद्यम से बोध के स्तर पर यह जानने के लिए आश्वस्त करती है कि भाषिक ज्ञान या अपनी भाषाओं के अनुराग से अतीत के उन लक्ष्यों के हम करीब होते हैं जिनके सही अर्थ कभी-कभी शाब्दिक संयोजनों की विधि ही ज्ञापित कर डालती है।

इसलिए भारतीय भाषाओं के मूल निर्माता तत्वों की खोज तभी संभव है जब हम अपनी बोलियों, भाषाओं के प्रति सजग हों और उनके अध्ययन को अनुशासित ढंग से विकसित करने की दिशा में सोचें। इसलिए भी कि ज्ञान की अलुप्त धारा का अद्यतन सिरा अपने आप में स्वयं सिद्ध विकास की कड़ी होता है और वह पुराने नियमों के बहाने पुरातन ज्ञान की अद्भुत शक्तियों का संग्रह भी होता है। एक आधुनिक विद्वान जो पुराज्ञान के विशेषज्ञ हैं यह मानते हैं कि जिस रूप में मनुष्य ने एक अमूर्त चित्रावली से मूर्त हो सकने वाले सूत्रों को खोजने की कोशिश की है उससे यह तो आश्वस्ति होती ही है कि हम किसी न किसी अगले पल में छिपे हुए अतीत के शक्तिमय आशयों का बोध पा ही लेंगे क्योंकि यह काम चुपके से मनुष्य जाति ने भाषाओं के हवाले किया हुआ है। इसीलिए एक विद्वान ने उपनिषद् के एक यंत्र

का आयुर्विज्ञानीय गुह्य प्रारूप उद्घाटित कर नये औषधि विज्ञान का वातायन खोल डाला है। भविष्य में संभवतः हम अपने अतीत के माध्यम से प्रकृति और मनुष्य के गहरे साहचर्य के कुछ अन्य आधार भी खोज पाएँ जिनसे भविष्य में उपजने वाली कुछ समस्याओं के निदान निकलें। यह काम भाषा ही कर सकती है और भाषा का सर्वोत्तम सृजनात्मक लेखन में व्यक्त होता है और सृजन का सबसे बेहतर स्वरूप सबसे कम पढ़े जाने वाली विद्या कविता अर्थात् गद्येतर पद्य में ही सृजनशील लोग लिखने का उद्यम करते हैं।

भाषा अपने आद्य रूप में ही इकहरी चीज़ नहीं है। वह पहचान के लिए चित्रमय, संकेतमय या प्रतीकमय है और इसी पहचान को संरक्षित करने का काम लिपि में होता है तथापि लिपि जब ध्वनियों में रूपांतरित होती है तो वह लयात्मक या गीतात्मक या छंदात्मक या गेयपदीय इसलिए होती है कि उसे संगीत की शैली में रूपांतरित करना ज़्यादा आसान होता है। हम कह सकते हैं कि भाषा की संगति हमारी एन्द्रिक चेतना के हर पहलू से बनी हुई है। अर्थात् हम एक प्रतीक रूप में अंकित चित्रात्मक या संकेतात्मक या गणितात्मक रूप रेखा को संगत अर्थात् तर्कपूर्ण ढंग से पुनरुत्पादित भी कर सकते हैं व उसे संवादात्मक रूप में ढालकर व्यक्ति से समूह की वस्तु भी बना सकते हैं तथा भाषिक संरचना के रूप में उसे एक स्वतंत्र विचार के रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं। उसे गेय रूप में भी रूपांतरित किया जा सकता है किंतु इसके लिए भाषिक गेयता के रूप में संरक्षित करना आवश्यक है या पठनीय बना सकते हैं। परंतु यह हम तभी कर सकते हैं जब भाषा का रूप सुनिर्धारित हो और उसके अपने अनुशासन से हम और संप्रेषण से जुड़े दूसरे व्यक्तियों या समूहों या पाठकों का भी अंतर्संबंध समानुरूप हो और बोध के स्तर पर मूल पाठ को संप्रेषित करने में पूर्ण रूप से सक्षम हो। इसी कथन के भीतर यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल पाठ सार्वभौमिक स्तर पर सभी माध्यमों के अनुशासन में समान हो। ऐसा चमत्कार भाषिक आधारों पर रचे गए सभी पाठों को उपलब्ध रहता है अतः यह

कहने की आवश्यकता नहीं है कि अन्य भाषिक रूपांतरणों में वह अन्य भाषिक ज़रूरतों के अनुसार बदलता भी रहता हो। स्पष्ट है जब भाषा और अनुवाद के सिद्धांतों की बात करेंगे तब भी इस बात पर गर्व करेंगे कि हमने अपनी भाषाओं का अपने माध्यमों में मूल पाठ के मूल कथन, मूल प्रस्तुति और मूल आशय को बनाए रखा है। यह खूबी या शक्ति भाषा की है या मूल पाठ की— इस पर निर्णय थोड़ा कठिन है और विचलन प्रस्तुत करने वाली दृष्टि मूल पाठ से भी उत्पन्न होती है व भाषिक बुनावट से भी ठीक वैसी ही दृष्टि जो मूल पाठ के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करती है। विवाद यह है कि विचार और भाषा में, दोनों में स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखने की क्षमता है यद्यपि विचार के संदर्भ में भाषा बाद में उभरकर आने वाली प्रक्रिया है जो संरक्षण की कार्यविधि का निर्माण करती है किंतु संप्रेषणधर्मी होने के कारण उसका दर्जा किसी अन्य सृजनात्मक कार्य से कम महत्त्व का नहीं है। सारतः यह कहा जा सकता है कि भाषा मनुष्य के क्रिया व्यवहार की मूल भूत वस्तु है यदि वह न हो तो मनुष्य समुदाय एक दूसरे तक जिस रूप में और गति में आज उपस्थित है वैसा कभी न होता। अतः भाषा और भाषाओं के बीच अर्थदायी सेतु का निर्माण एक ऐसा कार्य है जो सतत चलता रहता है।

मूल मंतव्य यही है कि अद्यतन भाषा का रूप भले ही बदल गया हो और हम अपनी बोलियों को पिछड़ा समझने के लिए लाचार हों लेकिन हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि विकास की इस दौड़ में हर बीता हुआ पल आधुनिक और अत्याधुनिक या उत्तर आधुनिक अर्थों में एक कदम पीछे की चीज़ रहेगा। तथापि यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस पिछड़े कदम के बोध के बिना आधुनिक या अत्याधुनिक या उत्तर आधुनिक से हमारी संगति अर्थपूर्ण इसी आधार पर है कि हम आज जिस रूप में आगे बढ़े हुए हैं वह हमारे पहले कदमों के कारण ही है और इसी अर्थ में जब हम अपनी भाषा का वर्तमान रूप देखते हैं तो वह नई बेलों की तरह अनेक रूपी नव्यता से विकसित होती है और यही फिर प्रश्न उठा है

कि हमें अपनी सहजात भाषा बोलियों को उनके वैज्ञानिक आधारों के साथ जानना ही होगा अन्यथा ऐसे जाने बिना हम शास्त्रीय आधार की उपेक्षा तो करते ही हैं हम अपनी मूल भाषाओं की भी उपेक्षा करते हैं।

हम भाषा के निसर्ग के प्रति भी अपनी अगंभीरता व्यक्त करते हैं। भाषाओं को पूरी तरह जानने का आशय है कि हम उन वैयाकरणिक आधारभूत सैद्धांतिक आधार शिलाओं से परिचित हो सकें जिनके सहारे भाषागत समृद्धि से जुड़े हैं। इस कथन के समानांतर यदि हम भाषाई दृष्टांत के परीक्षण का सहारा लें तो जटिलताओं का सामना कम होगा क्योंकि भाषा भी भौतिक नियमों जैसी बाध्यताओं के भीतर ही विकसित होती है।

अतः अनिवार्य रूप से लोक बोलियों और अन्य लोक माध्यमों का भाषागत अध्ययन प्रारंभिक तथा माध्यमिक स्तर तक होना चाहिए जिससे भाषाओं के विविध रूपों का परिचय प्राप्त हो तथा भाषाओं के विकसन का सही दृष्टिकोण भाषा शिक्षक और शिक्षार्थी को बोधगम्य हो सके। इसी से हम उस वैज्ञानिक आधार से भी परिचित हो सकेंगे जो विभिन्न भाषाओं में भिन्नता के रूप में स्थानीय प्रभावों को अंगीकार कर सके और उनके सार्वजनीकरण की प्रक्रिया अपना सके।

समूचे भारत के परिज्ञान के लिए आवश्यक है

लोकभाषाओं का शिक्षण

वस्तुतः लोक भाषाएँ हमारी सामाजिकता की ऐसी अलम्य और अदृश्य सीढ़ियाँ हैं जो जड़ों से जल खींचकर ऊपर ले आती हैं और भाषाओं के स्थानिक स्वरूप को बढ़ने का पर्याप्त अवसर प्रदान करती रहती हैं। जैसा हमने पहले कहा है कि भाषा एक ऐसी इकाई है जो विकसन के हर पक्ष के आधारभूत रूप में विद्यमान रहती है। विकसन के यांत्रिक मानचित्र में हम उनका परिदर्शन कर सकते हैं। तथापि यह याद रखना होगा कि जब हम किसी भाषा के अध्ययन के वैज्ञानिक सूत्रों की परिगणना करते हैं तो वे केवल किसी एक या एकांतिक भाषा पर अवधान केन्द्रित नहीं करते अपितु वह सार्वजनिक तौर पर सभी भाषाओं के लिए समान रूप से उपयोगी आधार बन जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत और भारतीय भाषाओं की लोकव्याप्ति के कारणों में महत्तम कारण है भारत। और उस भारत को समझना थोड़ा दुष्कर कार्य है किन्तु एक स्थूल आधार पर कहा जा सका है कि वह भारत जो दृश्यरूप से भौगोलिक इकाई में देखा जा सकता है वह हमारे मंतव्य का लक्ष्य नहीं है परंतु वह अदृश्य भारत जो हमारी भाषाओं में बोलियों की लय से हमारी प्रमुख भाषाओं में विद्यमान है, वह भारत अदृश्य-सा भारत ही भाषाई मूल से बोध तक पहुँचने वाला तत्व है जो हमारे उपरोक्त निष्कर्ष का भी लक्ष्य है, वास्तविकता के उन बिन्दुओं में दृश्यमान होता है जिसे हम भाषाई लय के रूप में लक्षित कर रहे हैं। आशय यह है कि भाषाई लय का अंतर्विधान समझने पर ही उसकी अदृश्य और लौकिक गणितीय धारणा के बारे में स्पष्ट हुआ जा सकता है। यहाँ तो मात्र एक परिकल्पना का आश्रय लेकर हम भारतीय भाषाओं के बारे में यह टिप्पणी कर सकते हैं कि लयात्मक परिकल्पना का यही स्वरूप हमारी भाषाओं के आंतरिक गेयात्मक, उच्चारणगत वैशिष्ट्य में उपलब्ध है। उसे ही फिर खोजना होगा।

भाषिक उच्चारणों का प्रतीक संयोजन अभी किसी ऐसे शोध का लक्ष्य शायद नहीं बना है कि हम कह सकें कि मनुष्य के कंठ-यंत्र की अनुरूपता ही उसके प्रकट होने का कारण हो तथापि आद्य भाषा शास्त्री भाषा को मनुष्य मुख से ही उत्पन्न ध्वनियों का ही प्रतिफल मानते हैं और एक कदम आगे चलकर वे विभिन्न प्रतीकों, चिह्नों और उच्चरित ध्वनियों का वर्गीकरण करते हुए एकालापी ध्वनियों को अबाधित रूप से देख कर उन्हें स्वतंत्र कोटि 'स्वरों' के अंतर्गत विभाजित कर लेते हैं तथा दूसरी ध्वनियों को ओष्ठ्य, तालव्य, कंठ्य वर्गीकरणों के अंतर्गत स्वीकार करते हैं। प्रश्न उठता है कि फिर वह लय कहाँ जिसका हम इससे पूर्व परिच्छेद में उल्लेख कर रहे थे। यहाँ दो प्रकरणों में इस कथन के अंतरार्थ को जानना संभव होगा। एक प्रकरण है कि भाषा के जन्मने के और भाषा प्रतीकों के जनमने के दो अलग-अलग पक्ष। ज़रूरी नहीं कि भाषा के जन्मने के कारण

केवल कंठ यंत्र की अनुरूपता नहीं है अन्यथा कठिन, श्रमसाध्य, स्मृति में बहुत कठिनाई से स्थित रखने वाली ध्वनियों को भाषा निर्माता अपने साथ रखता ही नहीं। भाषा शास्त्री ही बहुतेरी ध्वनियों और शब्द की प्रकृतियों को 'मुख सुख' के आसान तर्क के अंतर्गत श्रेणी बद्ध कर चुके हैं और न ही भाषा प्रतीकों के जन्म को उच्चारणगत अनुरूपताओं से जोड़ सकते हैं परंतु उस एक समान आधार की खोज होते ही कि भाषा संप्रेष्य वस्तु बनते ही संप्रेष्य ध्वनियों में सिमट आती है, एक नये ढंग के भाषा-विमर्श का जन्म होने लगता है। यहाँ यह याद रखना बहुत ज़रूरी है कि उच्चरित ध्वनि भाषा अध्ययन का एक मजबूत आधार है इसीलिए भाषाविद् उच्चरित ध्वनियों का अनेक रूपों में अध्ययन करते हैं तथा विभिन्न प्रकार के भाषा परिवारों का यथाविध वर्गीकरण कर ध्वनियों के नियम निर्धारित कर उस सैद्धांतिक अवधारणा का निर्माण करते हैं जिसे शास्त्र या व्याकरण कहते हैं। व्याकरण का अध्ययन भी एक गणितीय उपक्रम है। बस सिर्फ याद रखने का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है कि भाषाशास्त्रियों ने नई भाषाओं में पारंगत होने के लिए लय या संगीतात्मक अन्वय या ध्वन्यात्मक परिसीमा का शैक्षिक अनुशासन भी सृजित किया है जिससे कम समय में भाषा-लोकभाषा या समूची भाषाओं में गति प्राप्त की जा सकती है। भारत के संदर्भ में यह एक नव्य निदान की पीठिका है।

भारतीय भाषाओं के शब्दों की प्रकृति देखें तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अनेक शब्द, वाक्य प्रयोग और परिच्छेद अपनी समानता के कारण विषयों के पर्याप्त निकट दिखाई देते हैं और इससे यह भी बोध होता है कि भारतीय बोलियों और भाषा में संबंध व्यापक आधार पर शब्द से अर्थ प्रतीति के निकटतम साधन है। इस कथन की सत्यता के लिए एक अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा कि शब्दोच्चार में ही अर्थधारणा के संकेत अगर कहीं हैं तो ये सिर्फ भारतीय भाषाओं में हैं। वर्णक्रम को ही आधार बनाएँ तो प्रथमाक्षर के अन्यान्य उच्चारणों का उल्लेख हुआ है। इन पंक्तियों के लेखक ने एक बार पंडित राजाराम शास्त्री का व्याख्यान सुना था जिसका उद्देश्य

था प्रथमाक्षर 'अ' के १०८ उच्चारणों का स्वरूप। और उसी एक अवधारणा से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि शब्द की एक ध्वन्यात्मक इकाई अपने अनुबोधन का रूप संप्रेष्य अर्थ, संप्रेष्य प्रयोजन और संप्रेष्य ध्वन्यात्मक लय में ही व्यक्त करती है। प्राचीन व्याकरणों में, जो लिखित अर्थात् लिपि संकेतों में लिखित हैं एक सुदीर्घ परंपरा का ही बोध देती है। तथापि इस बोधात्मक रूप का ज्ञानात्मक अनुशासन कई प्रकरणों में स्पष्ट रूप से उपलब्ध है किंतु उसके कई रूप अदृश्य, अव्याख्यायित और अव्यवस्थित हैं। उनका अध्ययन, और उन पर भाषा चिंतन संबंधी लंबा विमर्श अत्यावश्यक है और यह तभी संभव है जब हम सभी भारतीय भाषाओं को जानने की दिशा में सोचें।

सांस्कृतिक आधार पर लोक तत्व का

जोड़ तत्व के रूप में विस्तार

निर्विवाद निष्कर्ष कि उत्तर भारत की भाषाओं का लोक संसार लोक भाषाओं द्वारा प्रभावित है। परंतु यह भी तथ्य है कि भारत की सभी लोक भाषाएँ अपने क्षेत्र से प्रभावित है। परंतु यह भी तथ्य है कि भारत की सभी लोक भाषाएँ अपने क्षेत्र की बहुप्रयुक्त भाषा को सुसंपन्न करते हुए उन्हें संपुष्ट करती हैं और एक दूसरे के बीच एक अदृश्य से विनिमय को बढ़ावा देती रहती हैं। यह विनिमय परस्पर जुड़ने का भी काम करता है और साथ-ही-साथ नये प्रयोगशील कदमों के विस्तार का भी। इस तरह हम पाते हैं कि बहुभाषी भारत की भाषाओं में एक नैसर्गिक-सा जोड़ तत्व है जो बाहर से नहीं दिखाई देता बल्कि बाहर वह ऐसी प्रतीति देता है कि भारत की भाषाओं में दूरी है और इस दूरी का उदाहरण हर भाषा की शब्द संपदा बनती है जो अन्यान्य भाषाओं में अलग-अलग दिखाई देती है। उसके उच्चारणगत स्थानीय शिल्प का भी गहरा प्रभाव यही पड़ता है कि वे एक दूसरे से बहुत दूर हैं। यह भाव दृश्यात्मक आधारों पर पाकर हम न सिर्फ अवाक् रह जाते हैं अपितु यह मानने लगते हैं कि दृश्य प्रमाण ही सबसे ज़्यादा सच्चे हैं। परंतु यदि हम भारत के संदर्भ में दूसरी ज्ञान की भी शाखाओं को लें तो ऐसी ही दूरी हमें वहाँ भी दिखाई देगी। यही नहीं हमारे अनेकानेक

अनुष्ठानों में भी हमें ऐसा भाव मिलेगा कि हमसे १५ किलोमीटर दूर रहने वाला आदमी हमसे भिन्न है परंतु 'भाषा' को ही दृष्टांत मानें तो ऐसी असंख्य समानताएँ हैं जो हमारे बीच एक अटूट सूत्र की तरह विद्यमान हैं। और वे अटूट सूत्र हैं जो हमारी भाषाओं को समृद्ध करने में कंजूसी नहीं बरतते। और यही आधार हैं जो हमें सतत प्रेरित करते हैं कि हम दूसरी भाषाओं को भी जानें।

दूसरी भाषाओं को जानने की बौद्धिक ज़रूरत के बहुत से आधार हैं। सदियों से भारतीय जन मुख्यधारा के शीर्षस्थ विचार के बारे में मुख्य भाषा या सुविज्ञ लोगों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली भाषा में ही संबोधित नहीं था। विचार मुख्य या प्रमुख या बहुत चर्चित या नव्यता युक्त या खण्डन-मण्डन पद्धति के अनुसार नये विचारों से पिछड़ा हुआ साबित करने के लिए भी मुख्यधारा की भाषा का इस्तेमाल सामान्य नागरिक नहीं करते थे। वे अपनी मातृ बोली में भी उसका चर्चण या कहें 'विमर्श' कर अपनी नव्य खोजों की प्रसिधियों का उल्लेख कर समूचे भारत में विमर्श की अद्भुत परंपरा कर अनुगमन करते थे तथा समय आने पर अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में उसका विमर्शात्मक विवेचन प्रस्तुत करते थे। कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विमर्श में तत्काल संप्रेषण उतना महत्त्ववान नहीं था। कभी-कभी एक ही मूल विचार को ध्वस्त करने की कोशिश में सदियाँ भी लग जाती थीं किंतु सदियों की समय-सीमा में ऐसा विमर्श तात्कालिक और अर्थवान 'विमर्श' की भाँति ही स्वीकार किया जाता था और तब के बौद्धिक जगत में हलचल मचा कर अपने अवसान की पीड़ा को नये विमर्शों के तर्कों में जीवित रख कर परंपरा का ऐतिहासिक अनुभावन देता रहता था। देखा जाए तो भाषा का सबसे बड़ा चमत्कार यही था कि वह अपनी प्रवृत्तियों में भूत-भविष्य वर्तमान को उपस्थित कर अत्याधुनिक कंप्यूटरों की तरह सूचनाओं के मर्म को प्रस्तुत कर बौद्धिक प्रचलन कायम रखते हुए उन संभावनाओं की ओर भी इंगित करता था जिनकी हमें आने वाले कल में ज़रूरत पड़ती थी। वह एकांगी या टुकड़े टुकड़ों में मिलने वाली जानकारी के कल पुर्जों

की उपलब्धि नहीं थी अपितु भाषिक अनुशासन में संप्रेषण की पूर्णता देने वाली विधि थी और भी मुख्यधारा की भाषा में अन्य धाराओं के स्वतः प्रवेश की विधि और इसी आधार पर निष्कर्ष हासिल होता है कि अनुशासन के रूप में भारतीय भाषाओं की शिक्षा का द्वार हमेशा खुला रहना चाहिए। यह एकदम अलग प्रश्न है कि हम भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कौन से तरीके उपयोग में लाएँ। भाषाविदों ने भाषा सीखने के अनेक विधानों पर विमर्श किया है उसमें से एक विधान साहित्य के जरिये, खासतौर से कविता के जरिए, भाषा सीखने के विधान पर भी शास्त्रीय चर्चाएँ की हैं।

अतः भारतीय भाषाओं के अध्ययन की परंपरा, उच्च शिक्षा के लिए ज़रूरी आधार है। उसे जारी रखना अनिवार्य बनाना होगा। समस्या सिर्फ यह है कि हमारे देश में भारतीय भाषाओं को सीखने-सिखाने की दिशा में कोई काम ही नहीं हुआ है। भारतीय साहित्य के आद्य ग्रंथों को अगर लें तो वे सभी भाषाओं, बोलियों में मान्य हैं। याद रहे भारतीय साहित्य के आद्य ग्रंथ आज भी संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं और हमारी शिक्षा व्यवस्था में उन्हें संस्कृत ग्रंथ मानने की ही परंपरा है जब कि वे संस्कृत में ज़रूर लिखे गए हैं किन्तु अन्य अनेक भारतीय भाषाओं में उनकी पुनर्रचना हुई है। यह पुनर्रचना भारतीय भाषाओं का प्राचीन अभ्यास है। यह अभ्यास बोलियों तक जाता है। इन पंक्तियों के लेखक ने ठेठ बालपन में गढ़वाली रामायण और गढ़वाली दुर्गा सप्तशती के नाम सुने थे और अक्षर ज्ञान प्राप्त करने के बाद छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में अनेक बहुश्रुत ग्रंथों के गढ़वाली रूपांतरण भी देखे थे। बाद में श्रीमती चंदोला के अनेक अन्य अनुवाद भी देखने में आए। यही नहीं मैथिली भाषा में इन पंक्तियों के लेखक ने एक विद्वान के संग्रह में ऐसी अनेक कृतियों के भाषांतर देखे हैं जो अचरज में डालते हैं। कहने का अर्थ यह है कि भारतीय भाषाओं और बोलियों में लिखित या मौखिक रूप में आई ग्रंथों के भाषांतर की यह पद्धति जिसे पुनर्रचना ही कहना संगत जान पड़ता है नव सृजन की तरह ही प्रतीत होते हैं तथापि उनका व्याख्यात्मक

स्वरूप समय, स्थान और अन्य प्रभावों से प्रभावित रहता है।

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दी में विद्वानों के विचार-विमर्श के उपरांत अनेक परिवर्तन हुए हैं। उन्हें प्रभावित करने वाली मुख्य शक्ति राजनैतिक शक्ति रही है। दुःखद प्रसंग यह है कि हर नई सरकार ने अपनी नई शिक्षा नीति थोपने के आशय से प्रस्तावित की है और शिक्षा के क्षेत्र में भी सक्रिय राजनेताओं ने उसका स्वागत किया है। सूचनाओं के प्रसंग में इतना तो देख ही सकते हैं कि शिक्षा नीति में दखल राजनैतिक पक्ष का ज़्यादा रहा है और यह विद्यालयों या विश्वविद्यालयों के काम में हस्तक्षेप-सा है। पाँच वर्षों के लिए चुने जाकर शिक्षा में तात्कालिक ज़रूरतों की दुहाई देकर की गई छेड़छाड़ अपराध से कम नहीं। होना तो यह चाहिए था कि कोई स्थायी आयोग शिक्षा के लिए निर्मित कर शिक्षा संबंधी ज़रूरतों की प्राथमिकताएँ तय करता और प्रायोगिक तौर पर उनका अनुपालन कर अनुवर्ती कार्रवाई के लिए विमर्श करता। इस तरह के स्थायी विचार की जगह अधिकचरे राजनीतिज्ञों ने अपने दबाव से शिक्षा संबंधी जो परिवर्तन किए हैं उनके चलते गंभीर अध्ययन और शोध के लिए जगह नहीं बन पाई है। अभी भी समय है कि इस संबंध में कोई कारगर पहल हो। हम अपने आपको सिर्फ भाषा तक ही केन्द्रित रखेंगे क्योंकि शिक्षा का क्षेत्र बहुत विशद् है। भाषा परिज्ञान और अध्ययन के लिए सबसे बड़ी ज़रूरत उन बुनियादी बातों को समझने की है जिनसे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संप्रेषण और संवाद बिना भाषा के संभव नहीं है। भाषा को संप्रेषण एवं संवादानुकूल बनाने वाली प्रक्रिया क्योंकि एक जटिल प्रक्रिया है, उसे आसानी से बोध के स्तर पर लाना भी थोड़ा कठिन काम है तथापि हमारी मातृ बोलियाँ एक पहला सोपान या पहला दरवाज़ा है जो संप्रेषण के प्रकाश से हमें अवगत कराता है। अतः मातृबोलियों को इतना मज़बूत होना चाहिए कि वह देसी या विदेशी भाषिक संरचनाओं की जटिलता को बोधगम्य बनाने की युक्ति से हमें परिचित कराये। भाषा या इस

अर्थ में शिक्षार्थ प्रस्तुत कोई भी इकाई बालपन को आकर्षित कर उसके अवधारणात्मक परिवेश से अंतरंगता स्थापित करे। असल बात है उस नई अवधारणा से हमारा अंतरंग संबंध कैसे स्थापित हो। हमने पहले ही स्वीकार कर लिया है कि भाषा या भाषाओं का अपनी मातृ बोलियों द्वारा ज्ञान देना एक जटिल कार्य है। यह छोटी उम्र के शिक्षार्थियों के लिए जितना कठिन है अपेक्षाकृत बड़ी उम्र के शिक्षार्थियों के लिए भी जटिल है किन्तु नई भाषा को वैज्ञानिक तकनीकों ने रुचिकर, आकर्षक और गुण संपन्न बनाने की दिशा में पहल की है।

इसी पहल का परिणाम है कि अब साहित्य के द्वारा भाषा शिक्षण की तकनीकों का विकास किया जा रहा है। केवल दृष्टांत के लिए किसी एक कथा, लघु या बड़ी कथा के सहारे भाषा परिज्ञान और जटिल वैयाकरणिक सूचनाओं को स्मृति में ठहराना दुष्कर-सा काम ज़रूर है परंतु यदि कहानी रोचक है तो अपनी रोचकता या विस्मय या विस्मयता के सूत्र वह स्वयं अपने में छिपाये रहती है जिन्हें कोई लोकप्रिय-सा दृष्टांत अनावृत कर हमेशा के लिए हमारी स्मृति का हिस्सा बना डालता है। बचपन में सीखी हुई भाषिक युक्तियाँ सदैव के लिए स्मृति का हिस्सा बन जाती हैं। कथाओं और कविताओं में वह चामत्कारिक शक्ति है जो कभी-कभी अन्य साहचर्यों से उसे अनावृत किया जा सकता है। आशय यह है कि वर्तमान पद्धतियों में किसी प्राचीन पद्धति को जोड़ना क्या संगत होगा ? क्योंकि प्राचीन भाषा परिज्ञान में पूर्व रचित गाथा काव्यों के उदाहरणों का पर्याप्त उपयोग किया जाता था। विशेष रूप से ऐसी काव्योक्तियाँ शीर्ष दृष्टांत बनती थीं जो किसी सैद्धांतिक मसविदे का आधार बनें। प्राचीन शिक्षा पद्धति का ऐसा व्यावहारिक स्वरूप भले ही आज उपलब्ध न हो फिर भी नये विद्वान और भाषा शास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'भाषा ज्ञान' के लिए उत्कृष्ट सृजन से अधिक लाभकारी उपकरण कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

चर्चित प्रस्ताव की विवेचना की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं सिद्ध युक्ति है। केवल इतना जानना आवश्यक

है कि उत्कृष्ट सृजन और आधुनिक पाठ्यक्रमों में भरे गए सिफारिशी पाठों की तुलना से भी भाषा परिज्ञान की शुरुआत की जा सकती है क्योंकि तब कमजोर उदाहरणों के लिए अन्यत्र नहीं जाना पड़ेगा। सरकारी स्तर पर निर्मित पुस्तकों से दोयम कोटि की सामग्री आसानी से उपलब्ध हो जाती है। इस कथन पर विचार करेंगे तो एक सामान्य पाठक और जिज्ञासु पाठक के बीच का अंतर भी बोधगत हो जाता है। मंतव्य मात्र यह है कि भाषा परिज्ञान देने के लिए उत्कृष्ट सामग्री की दरकार हमेशा रहेगी और वह भी हमेशा, हर भाषा में हर युग में हमारी छोटी या बड़ी भाषाओं में खोज करने के उपरान्त यह हस्तगत हो ही जाती है।

हमने आरंभ में हिंदी के वर्तमान स्वरूप को अतीत की अन्यान्य इकाईयों की निर्मिति माना था। इसी युक्ति के सहारे स्वीकार करना पड़ेगा कि हिंदी का वर्तमान स्वरूप अपने पिछले स्वरूप से एकदम अलग नहीं है। विकास के परिमाणों से यह तो आसानी से माना जा सकता है कि हम पिछली सदी के भाषिक श्रेय से आगे की ओर बढ़े हैं तथापि यह भी देखना पड़ेगा कि हमारा ज्ञान कोश किस दिशा की ओर उन्मुख है। प्रथम दिशा संभवतः संप्रेषण की पूर्णता को लेकर ही अन्वेषित की जा सकती है और यह कहना पुनः उचित और आसान ही होगा कि हमारे शब्द कोशों में नये शब्दों की आमद आश्चर्य में डालने वाली है। आने वाले शब्द एक दूसरी दिशा की ओर इशारा करते हैं कि हमने अपने लोक जीवन के बहुत से शब्दों को परिवर्तित रूप में स्वीकार किया है अर्थ हुआ कि हम अभी भी अपनी लोक भाषाओं से जुड़े हुए हैं। यह जुड़ाव कई रूपों में परिलक्षित होता है। जैसा हम कह चुके हैं नये शब्द भी निर्मित हुए हैं या आए हैं। शब्दों के आगम से जुड़ी हुई अनेक विधियाँ हैं परंपराएँ हैं एक निर्माण या नये शब्दों के बनाने की प्रक्रिया है दूसरे शब्द भाषा और भाषाओं के अंतर्मिलन से प्रवेश कर अर्थों का नया संसार प्रदर्शित कर जाते हैं।

हिंदी में दोनों प्रक्रियाएँ आश्चर्य में डालने वाली हैं। इनका अलग से अध्ययन किया जाना चाहिए। यह विद्वानों

का काम है किंतु इस दिशा में कोई सकारात्मक पहल नहीं हुई है। आशा करनी चाहिए कि हमारे विश्वविद्यालय डिग्री लक्षित शोध की जगह स्वतंत्र शोध को बढ़ावा दें और उसमें कुछ विद्वान अपना कार्य कर फिर उसकी रपट विश्व भर के विद्वानों के समक्ष रखें तो भाषा के नये रूप को जो वैश्विक स्तर पर निर्माण हो रहा है उसकी स्थिति से सभी राष्ट्रीय इकाइयाँ लाभान्वित होंगी। भाषाओं के तुलनात्मक परीक्षण की वैज्ञानिक प्रक्रिया अनिवार्य है। इससे नये निष्कर्ष आयेंगे और वे दिशा निर्देश के बिन्दु बन कर अपनी भारतीय भाषाओं की क्षमता का आकलन करेंगे। इसमें संदेह नहीं कि तेज़ी से विश्व भाषाओं के बीच प्रजातांत्रिक ढंग से टकराहट हो रही है और उसकी टकराहट से ध्वनित हो ही रहा है कि अंग्रेज़ी पूर्ण परिपक्व, पूर्ण वैज्ञानिक भाषा नहीं है। हिंदी उनमें सर्वाधिक स्वीकृत भाषा है। इस स्वीकृति के कुछ दृश्य तथा कुछ अदृश्य कारण हैं। कुछ कारण भारत के विश्व मंच से जुड़ाव के भी हैं। उनका स्वतंत्र रूप से बौद्धिक जगत में स्वागत हो ही रहा है। साथ-ही-साथ एक बड़ी भाषा के रूप में हिंदी की स्थिति का स्वतंत्र आकलन भी बौद्धिक क्षेत्रों में स्वतः प्रदर्शित हो रहा है।

भारत : एशियाई चेतना की प्रमुख धारा

एशिया में हिंदी की स्थिति अंग्रेज़ी के मुक़ाबले में ज़्यादा परिपक्व है। एशियाई लोग बोलचाल की भाषा के रूप में हिंदी के महत्त्व को जानते हैं। नये माध्यमों में हिंदी की स्वीकृति स्वाभाविक तौर पर दिखाई ही देती है। एक बात तो साफ़ है कि अंग्रेज़ी के लिए भारत में दबाव नौकरशाहों और कापॉरेट घरानों द्वारा बनाया गया है। वे विश्व व्यापार के लिए काम चलाऊ अंग्रेज़ी का भी समर्थन करते हैं किंतु सांस्कृतिक आधार पर बोलचाल की भाषा का आधिपत्य है और उसे अखिल एशियाई रूप देने का काम भारतीय फ़िल्मों ने किया है। अचरज नहीं होना चाहिए कि व्यापक स्तर पर एशिया में भारतीय संगीत, भारतीय फ़िल्मों और भारतीय पत्र-पत्रिकाओं की खपत है। भाषागत लोकप्रियता के अन्य आधार भी अन्वेषित किए जा सकते हैं परंतु जो निर्विवाद रूप से

सच है वह दक्षिण एशिया में भारतीय भाषाओं की स्वीकृति का आदर्श है जो राजनैतिक और आर्थिक प्रतिकूलताओं के बावजूद अस्तित्व में है। यह एक ऐसा तथ्यात्मक आधार है जिसे धार्मिक और आर्थिक विवशताएँ भी ध्वस्त नहीं कर पा रही हैं। यह भी एक विचित्र तथ्य है कि एशिया में धार्मिक असहिष्णुता अपने चरम पर है किंतु उसके अस्तित्वमान रूप में भारतीय फ़िल्मों, भारतीय संगीत और भारतीय युवाओं के आदर्शों के प्रति विमुखता लक्षित नहीं होती। स्पष्ट है कि कुछ अन्य नैसर्गिक दबाव ऐसे हैं जो तमाम प्रतिरोधों का मुकाबला करने में समर्थ हैं। वस्तुतः पूरे एशिया में पश्चिम के ज़बर्दस्त प्रभावों के बावजूद एशियाई लोक में जो भारत बसा हुआ है वह एक स्थायी कीर्तिमान जैसा है। यह एशियाई लोक में जो वास्तव में एशिया की अपनी छोटी-छोटी लोक इकाइयों के स्थानीय प्रभावों को जैसे ही स्वीकार करता है वह भारत में लोक इकाइयों के आत्मीय प्रभाव का हिस्सा बन कर एशिया के लोक स्वभाव में रूपांतरित हो जाता है। यह एक ऐसा अविभाज्य तत्व है जो भाषिक उपस्थितियों में अपने लोक और अपने स्थानिक वैशिष्ट्य को बनाए रखता है। इसलिए एक वृहत्तर भारत जो दिव्यता का पोषक, प्राच्य ज्ञान का संरक्षक, मानसून की गतिविधियों में फैला हुआ, बौद्ध स्वभाव में निष्णात, धार्मिक लोकतंत्र का समर्थक और मानवीय मूल्यों की गहरी उपस्थिति का अनुभोक्ता है जो अन्यान्य रूपों में एशिया में फैला हुआ है। उसे समूचे भारत के रूप में ग्रहण करना आसान है। वह समूचापन विभिन्न परंपराओं और आदर्शों में विद्यमान है। वह राजनैतिक परिसीमाओं को संक्रमित कर फिर एक नये भारत के रूप में एशिया में विद्यमान है।

अतः इस समग्र प्रकरण को एक बड़ी भाषा के संदर्भ में देखा जाए तो वह ज़्यादा उचित होगा। इसकी वकालत का हमारा लक्ष्य सीमित है कि हम विश्व भर में भाषाओं के विलोप, उनके अप्रयोग के कारण उनकी दयनीय स्थिति पर विचार करते हुए यह स्वीकार कर लेते हैं कि कुछ बोलियों को धीरे-धीरे विलुप्त होना ही पड़ेगा क्योंकि उनके प्रयोक्ता धीरे-धीरे कम होते होते भौगोलिक क्षेत्रों

में प्रयोक्ताओं की अनुपस्थिति के कारण बोलियों के व्यवहृत स्वरूप को विलुप्त होते देख रहे हैं। यह दयनीय और मर्मस्पर्शी स्थिति हिमालय क्षेत्र में अनेक बोलियों को दुर्लभ खाते में डालने की विवशता झेलते हुए देख सकते हैं।

हमारा प्रयोजन एशिया में एशियाई भाषाओं के प्रचलन से है और एक सुखकारी सूचना है कि हिंदी की भारतीय स्थिति के अतिरिक्त एशियाई देशों में एशियाई भाषाओं के प्रति जो ममत्व है उसने क्षेत्रीय भाषाओं की स्थिति पर्याप्त दृढ़ की हुई है। उर्दू, नेपाली, बांग्ला में तीनों भाषाएँ पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल में राज्यीय स्तर पर सर्वोच्च हैं। भारत में इन भाषाओं के बहुप्रयोग के कारण इनका निर्बाध प्रयोग, विकास और इनके साहित्य की धाराओं का महत्त्व भारत में भी व्यापक रूप से देखा जा सकता है बल्कि भारतीय भाषाओं की तरह उनके साहित्य की जन स्वीकृति भारत में भारतीय भाषाओं के प्रति ममत्व के कारण विकसित है तथापि तमिल, मलयालम, मराठी, गुजराती का प्रयोग मलय क्षेत्रों यथा सिंगापुर, मलेशिया, दक्षिण अफ्रीका, मारीशस में प्रयोक्ताओं की उपस्थिति के कारण साहित्यिक-सांस्कृतिक-तकनीकी स्तर पर निर्बाध गति से हो रहा है। यह एक तरह से भारतीय भाषाओं के भारत से बाहर प्रयोग की सूचना की तौर पर भी लिया जा सकता है तथा एशिया में एशियाई भाषाओं के साथ भारतीय भाषाओं के प्रयोग की स्वतंत्रता को लेकर एशियाई स्वभाव में सह-अस्तित्व जैसे मूल्य के प्रति विश्वास के रूप में भी देखा जा सकता है तथापि भारत की बड़ी भाषा हिंदी के प्रति सरकारी दुलमुल रवैये के कारण एशियाई राज्यों में हिंदी की स्वीकृति के प्रति थोड़ी-सी बाधा-सी दिखाई देती है। यद्यपि बोलचाल की भाषा के रूप में एशियाई बाज़ारों यहाँ तक कि दुबई जैसे व्यापारिक केन्द्र में हम हिंदी, हिन्दुस्तानी, उर्दू का खुलकर प्रयोग देखते हैं ठीक यही स्थिति मलेशिया, सिंगापुर और वर्मा में हैं जहाँ व्यापारिक प्रयोजन के लिए बोलचाल की भाषा का प्रयोग होता है।

भारत सरकार को ध्यान देना होगा कि भारतीय

भाषाओं की स्वीकृति को दूसरे आयामों पर भी सक्रियता से राज्यीय नीतियों का अनुपालन हो। संघ की सर्वाधिक प्रयुक्त राजभाषा की उपेक्षा उचित कदम नहीं है बल्कि यह एक आपराधिक षडयंत्र का हिस्सा दीखने लगता है जिसे राज्यीय स्तर पर प्रोत्साहित किया जाता है। अंग्रेज़ी के प्रति हमारे नौकरशाहों का ममत्व इसी किस्म का है वे राजनेताओं की चापलूसी के लिए तो हिंदी स्वीकार कर लेंगे अन्यथा सरकारी कार्यों के लिए धड़ले से अंग्रेज़ी के प्रयोग में न हिचकियाएँगे। सरकारी स्तर पर एक नये भाषा आयोग का अस्तित्व अभी तक स्पष्ट नहीं है। बौद्धिक जन इससे परिचित नहीं हैं। तथापि यह माना जाता है क कोई भारतीय भाषा आयोग है जिसके कर्ता-धर्ता जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के समर्थक एक प्रोफेसर हैं जो संस्कृत के तो प्रेमी हैं किन्तु अपना काम अंग्रेज़ी में ही करते हैं। उनके दायित्व में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के हिंदी प्रेम को भी सौंपा जाना चाहिए जो यह बता सकें तथा इसकी रिपोर्ट दे सकें कि राजभाषा की अनुपालना में क्या क्या दोष रह गए हैं ? यदि राजभाषा या हिंदी भाषा के प्रश्न पर पुनर्विचार हो सके तो एशिया में भारतीय भाषाओं की स्वीकृति के मुद्दे पर यह पहल होगी और भारत में राजकीय स्तर पर फैली हुई काहिली का भी पर्दाफाश होगा। 'बाबूडम' की प्रशासकीय तिकड़ियों की भी पोल खुलेगी क्योंकि जो अकादमिक स्तर राजभाषा के अनुप्रयोग के लिए इस्तेमाल किया गया उसमें कालदोष हैं। वह आधुनिक यंत्र के मुकाबले एक पिछड़ा हुआ प्रयोग है। इस प्रयोग से हिंदी भी पिछड़ी हुई भाषा घोषित हो जाती है। बदली हुई परिस्थितियों में 'नई हिंदी' की जीवनी शक्ति को पहचानने की ताकत का इस्तेमाल ही नहीं हुआ है। फलतः हिंदी आरंभ करने के सरकारी मंसूबे आधा रास्ते में दम तोड़ देते हैं।

एशिया में खुली, उदार हिंदी की तो रफ्तार लोक भाषाओं के चलते हिंदी की अकूत शक्ति, अकूत लोकप्रियता को सिद्ध करती चलती है उसका प्रयोग तो

हिंदी में किया ही नहीं गया। सबसे पहले तो राजभाषा के पंडितों से पूछा जाना चाहिए कि उन्होंने इतने वर्षों तक हिंदी न चलने, कार्यालयों में उसके प्रयोग की वर्जना के अंग्रेज़ी तौर तरीकों की पोल क्यों नहीं खोली ? इसके साथ ही हर बरस-दो-बरस बाद सामान्य-सी समीक्षा के बहाने भी प्रगति का आकलन किया जा सकता है किंतु यह काम नहीं हो सका। फल यह है कि आज सरकारी दफ्तरों में हिंदी के काम की कागज़ी बढ़ोत्तरी के आँकड़े तो बढ़ा-चढ़ा कर बताए जाते हैं किंतु असलियत कुछ और ही है।

असलियत जानने के लिए राजभाषा विभाग के वार्षिक विवरणों की समीक्षा अनिवार्य है। इसलिए कि राजभाषा के लक्ष्यों की पड़ताल राजभाषा विभाग के ही जिम्मे है। हम एशिया में हिंदी के पिछड़ेपन की तोहमत भी आसानी से राजभाषा विभाग के माथे पर लगा सकते हैं क्योंकि केन्द्र सरकार के जो भी कार्यालय एशिया में हैं उनमें राजभाषा की प्रगति का कोई लेखा-जोखा नहीं किया गया। बल्कि लगता है कि ऐसे कार्य को भगवान भरोसे छोड़कर भगवा प्रजाति की सेवा ही मुख्य लक्ष्य बन गया हो।

हिंदी भारत की सर्वाधिक प्रयोग में आने वाली विश्वभाषा भी है। चीनी के बाद जनसंख्या के हिसाब से वही सही अर्थों में दूसरी भाषा मानी जाएगी तथापि अंग्रेज़ी के समर्थक राजनैयिक आधारों पर भाषाई प्रजातंत्रों को विकृत करने वाले तबके के पास विचित्र प्रकार के तर्क भी हैं। ऐसे कुतर्कों की उपेक्षा करना ही बेहतर है। देखना यह होगा कि एशिया में भी चीनी के बाद बोलचाल की हिंदी ही वह दूसरी भाषा है जो उर्दू, हिन्दुस्तानी, बांग्ला, नेपाली और अंग्रेज़ी से बहुत आगे अन्यान्य क्षेत्रों में बहु उद्देश्यीय ढंग से प्रभुक्त की जाती है। आप अखबारों की प्रसार संख्या को ही यदि एक इकाई मान लें तो आप पायेंगे कि समूचे एशिया में वह चीनी के बाद दूसरे नम्बर पर स्वाभाविक रूप से आ जाती है क्योंकि तेलुगु, बांग्ला, उर्दू की सम्मिलित संख्या से भी वह बड़ी है तथा उसका लोक क्षेत्र भी फैला हुआ है। इस दृष्टि से

वह चीनी के लोक क्षेत्र की तरह है जो अन्यान्य छोटी-मोटी बोलचाल की लोक भाषाओं में सृजित होकर हिंदी में वैश्विक स्वीकृति के रूप में आगे आ जाती है।

भाषाओं के संसार की उपरोक्त पड़ताल का मुख्य लक्ष्य यह है कि एशिया की भाषाओं पर यूरोपीय भाषाओं का एक अदृश्य-सा दबाव है और वह दबाव आधुनिक यूरोप खुले रूप में प्रकट करता है यह कहते हुए कि एशिया की भाषाएँ प्राचीनता से जुड़ी होने के कारण पिछड़ी हुई हैं। पूरा यूरोप अपने भवनों, प्राचीन इमारतों, प्राचीन इमारतों में खुदी लिखी या चित्रित की हुई कुछ सौ सालों की कृतियों को मानवजाति की विरासत के रूप में प्रस्तुत कर गौरवान्वित होता है किंतु उसे अंगकोर वाट या चीनी बौद्ध बिहार या भारतीय प्राचीन मंदिर पिछड़े हुए लगते हैं। यूनेस्को के दल को चिरौरी का हम अपनी कुछ चीजों को 'हेरिटेज' सूची में डालकर प्रमुदित होते हैं कि हमारे पास भी मनुष्य जाति की विरासत के कुछ नमूने हैं किंतु हम सौ दो सौ लोगों द्वारा आज भी प्रयुक्त अपनी हज़ारों सालों से चली आ रही भाषिक परंपराओं को मनुष्य जाति की विलक्षण विरासत मानने में कोताही बरतते हैं बल्कि उन्हें यूरोपीय मानकों की दृष्टि से उच्च नहीं मानते। झगड़ा यहीं से शुरू होता है कि हमें अब यूरोप और अमेरिका की उतनी परवाह नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनकी अपनी भाषा का पदान्वयन किसी वैज्ञानिक सैद्धांतिक सूत्र का प्रतिफल नहीं है। यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा कि वे सब वैज्ञानिक सैद्धांतिक आधारों की बजाय वर्चस्व की कामना से प्रेरित हैं।

इस प्रसंग में लंबी बहसे हों तभी हम उचित निष्कर्ष पा सकते हैं तथापि इसी प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम एशियाई भाषाओं के संरक्षण, उनके विकास के अकादमिक कार्यों के प्रति सजग हो जाएँ।

इस लंबे निबंध का मुख्य लक्ष्य यही है और इससे फुटने वाली धाराओं में प्रमुख धारा है कि एशिया के प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रमों में अपनी भाषाओं के साथ-साथ अपनी लोक भाषाओं की शिक्षा भी स्तरानुरूप दी

जाए ताकि एशिया के लोक जीवन में रसी-बसी, अकृत्रिम-नैसर्गिक भाषिक संरचनाएँ हमारी मुख्य भाषा को पुष्ट करती हुई, हमारे सांस्कृतिक आधारों को हमारे लिए सुलभ बनाते हुए एशियाई भाषाई के बीच प्राचीन संबंधों का पुनर्नवीकरण करती रहें। इसके लिए दक्षेस या ऐसी ही किसी संस्था के द्वारा लोक बोलियों का अनुप्रयोग और संरक्षण अकादमिक स्तर पर विकसित हो। यह प्रयत्न एक बड़े राष्ट्र के रूप में भारत को ही करनी पड़ेगी।

अभी तक भारतीय विद्यार्थियों के बीच एशिया अध्ययन संबंधी कोई रूपरेखा नहीं है। आरंभिक स्तर पर भूगोल और इतिहास के अंग्रेज़ी मानकों के मुताबिक सूचनाएँ जिस रूप में भी उपलब्ध हैं वे ही वितरित की जाती हैं। आश्चर्य है कि आधुनिक एशिया की जानकारी 'ना' के बराबर है। अतः अनिवार्य है कि प्राथमिक स्तर पर ही एशिया की वैज्ञानिक सूचनाएँ उपलब्ध हों ताकि माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तर पर उनका उपयोग उच्च शिक्षा के संदर्भ में भिन्न हो। यह कहने का मुख्य लक्ष्य यही है कि एशिया अध्ययन इतिहास की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है। वरन वह आधुनिक और उत्तर आधुनिक ज़रूरतों के संदर्भ में भी बहुत आवश्यक है।

और एशिया के समूचे अध्ययन का मुख्य मेरूदण्ड एशिया की भाषाओं का अध्ययन है जो आरंभ से ही शिक्षा के सभी पाठ्यक्रमों में जारी रहना अनिवार्य है। इसी आलोक में एशियाई भाषाओं का विधिवत् अध्ययन तथा एशियाई व भारतीय लोक भाषाओं का शैक्षणिक पाठ्यक्रम इस गति से या पद्धति से निर्मित किया जाए कि उससे हम अन्य भाषा परिवारों के बारे में जानकारी एकत्रित कर सकें। और उसे बहु-उपयोगी बताते हुए एशियाई भाषाओं की 'संपन्नता' का अनुभव करें तथा उन बिन्दुओं को जन सुलभ बना सकें जो एशिया की भाषाओं की समरूपता के निर्देशक तत्व हैं।

मुख्य लक्ष्य है उस संकेत को पकड़ना जिसे आधुनिक समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री पहचानते हैं और उसके अनुरूप अपनी भावी योजनाओं के परिगठन पर गंभीर विमर्श में हैं। प्रतीक्षा मात्र यह है कि भाषाओं के जटिल

और संवेदनशील मामले को किस रूप में प्रस्तुत किया जाए। 'भाषिक' संसार में नये माध्यमों के चलन ने यह काम आसान भी कर दिया है। वे नित नये 'प्रकारों' का अन्वेषण कर क्षेत्रीय भाषाओं के अनुप्रयोग की ओर निकल पड़े हैं। इसीलिए क्षेत्रीय भाषाओं में प्रस्तुतिकरण की होड़-सी मची हुई है।

एशिया विश्व का सबसे बड़ा महाद्वीप है। क्षेत्रफल के लिहाज से भी और जनसंख्या के लिहाज से भी। यदि हम विविधताओं की बात करें तो वैविध्य में भी वह अनुपम है। विश्व की अद्भुत विरासत के रूप में भी वह अतुलनीय है। विचित्र बात यह भी है कि वह उत्तरी गोलार्ध में भी अस्तित्ववान है और श्रीलंका, मालदीव, सिंगापुर, जावा सुमात्रा के कारण दक्षिणी गोलार्ध में भी अस्तित्ववान है। हम उसे एक ओर यूरोप से जुड़ा देखते हैं तो दूसरी ओर जापान से भी जुड़ा पाते हैं वह एलास्का के कारण उत्तरी अमेरिका के पूर्व में भी अस्तित्ववान है। विश्व के प्राचीन धर्मों का वह घर है और नये धार्मिक विमर्शों की भी महत्त्वपूर्ण पीठिका है। यदि भाषाओं की ओर मुड़े तो पायेंगे वहाँ चित्रात्मक लिपि में लिखने की पुष्ट परंपराएँ हैं। तथा वामाक्षरी पद्धतियाँ भी अत्यंत विकसित हैं। कहने का अर्थ यह है कि ध्वन्यात्मक लेखन की ऐतिहासिक यथा वैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं जो आज भी भाषाविदों को विस्मित करती हैं साथ-ही-साथ अन्यान्य अन्य विधियाँ भी इस उत्तर आधुनिक समय में प्रचलन में हैं। हमें इतिहास से यह तो याद रखना पड़ेगा कि लेखन की इन पद्धतियों का लोक प्रचलन तो ईसा की छठी शताब्दी से बहु प्रयोग में पाया जाता है किंतु भाषा को भाषिक संकेतों में ढालने, लोक प्रयोग में जारी रखने व सांकेतिक रूप से गुह्यात्मक पद्धति में संरक्षित करने की परंपराएँ लिपियों के लोक प्रचलन से पाँच हजार साल पुरानी हैं। एशिया की धरती पर कुछ हजार साल पूर्व ही मनुष्य के वाक्यंत्र से निकली ध्वनियों का उस काल के अध्येताओं, मनीषियों ने जो वर्गीकरण किया था उसी से उत्पन्न लेखन व ज्ञान की अनेक धाराओं के विधिवत् ज्ञानार्जन के अनुशासन की विधियाँ जन-सुलभ रही हैं।

एशिया के भाषाई मानचित्र में प्राचीन भाषाओं का परिगणन कठिन कार्य नहीं है हेब्रू, अरबी, संस्कृत, फारसी, तमिल आदि तो क्लासिकल भाषाओं का दर्जा पा चुकी हैं इन्हीं भाषाओं के समानान्तर अन्य भाषाओं के क्लासिकल रूप की चर्चा भी रुचिकर चर्चा है जो भाषाओं के प्राचीन स्वरूप की उत्पत्ति के बारे में नित नई खोजों के कारण नित्य-नवीन है। इन भाषाओं में रचित साहित्य एशिया के अतीत को अधिक वर्णमय घोषित करता है।

एशिया प्रकरण में भारत का अस्तित्व इतिहास के आधार स्तंभों के रूप में देखा जाएगा। कहना होगा कि एशिया का इतिहास भारत के बिना अधूरा है। एशिया के भूगोल की भारत एक ऐसी कड़ी है जो फिलीपाइन्स, कोरिया और कस्तूरूनिया से भी जुड़ी हुई है। और उसका कारण है भारत की उपस्थिति। अंग्रेजों ने भारत की उपस्थिति का केवल राजनैतिक मानचित्र भारत उपमहाद्वीप के रूप में स्वीकार किया। और यह करते हुए उन्होंने अपने राज्य विस्तार के मसूबों को आगे नहीं बढ़ाया। इसके कई कारण हो सकते हैं परंतु मुख्य कारण था वे भारत की प्रतिभा, शक्ति और भारत के प्राकृतिक महत्त्व से विस्मित थे। उन्होंने छल-छद्म द्वारा भारत को तोड़ने के अपने षडयंत्रों में कोई कमी नहीं आने दी। उन्होंने भारत को दास बनाने के हर कदम को मज़बूत बनाने की चेष्टा की किंतु वे भारत को पराजित नहीं कर सके बल्कि उन्हें बाद में भारत को बर्तानिया का मेरुदण्ड स्वीकारना पड़ा। भारत छोड़ने के बाद भी वे भारत को पूरी तरह छोड़ नहीं पाए। उन्होंने अंग्रेजमय भारत बना कर उसे एशिया में छोटा रचने की धिनौनी कोशिश की थी। परंतु वे उसमें भी सफल नहीं हो पाए। वे समझ ही नहीं सके कि भारत का भौगोलिक और राजनैतिक सत्य यही है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि एशिया के संदर्भ में हमें भारत को एक ऐसा सांस्कृतिक अस्तित्व मानना होगा जो समूचे एशिया के लिए अर्थ रखता है।

अतः एशिया प्रकरण में भारत का अस्तित्व भिन्न अर्थात् भूगोल और राजनीति से भिन्न मानना पड़ेगा। एक छोटी-सी भौगोलिक वृत्ति का ही आसरा लें तो

आलेख

भारत उस क्षेत्र को मानना पड़ेगा जहाँ मानसून असर करता है किंतु आधुनिक शोध मानसून का उत्स मूमध्य सागर और प्रशांत महासागर से जुड़ा मानते हैं। भारतीय क्षेत्रों में मानसून की आवाजाही के लिए प्रशांत महासागरीय हलचलों को वैज्ञानिक आधार स्वीकार किया जाता है।

यह अत्याधुनिक खोजों का परिणाम है। दो हजार वर्ष पूर्व के कवियों ने भारत के बारे में जो विवरण दिए हैं उन्हें आधुनिक मनुष्य ने अतिशयोक्ति घोषित किया है। प्राचीन विवरणों के मुताबिक भारत के विशेष अर्थ से उसकी बुनावट भी जुड़ी है। और उसकी बुनावट को ही प्रकृति की एक विशेष कृति मानकर उसका अर्थ अलग से स्पष्ट करना व्याख्याओं की कलाबाजी भी कहा जा सकता है। परंतु एशिया के संदर्भ में विशेष अर्थ का क्या वैज्ञानिक आधार है ? अनेक नये और पुराने शोध इस पर अनेकार्थी

टिप्पणियाँ करते हैं तब इतना तो समझ में आता है कि वैज्ञानिक कोणों का अध्ययन बराबर होते रहना चाहिए क्योंकि सृष्टि के निर्माण के, अवतरण के संदर्भ में कुछ नये तर्क मिलते रहते हैं। इसी आशय से कि भारत का अगर वैज्ञानिक अर्थ-संदर्भों में यदि कोई विशेष अर्थ है तो वह इसलिए विवेचना के योग्य है कि वह अन्य अनेक परिदृश्यों की विश्वसनीय भूमि का उल्लेख संभव बनाता है।

भारत की भाषाओं पर ही अगर हम इसी दृष्टि से विचार करें तो हमारे हाथ अनेक ऐसे तथ्य और प्रमाण जुटने लगेंगे जो एक नये आध्यात्मिक भारत की रचना कर डालते हैं जिसे सीधे-सीधे 'ज्ञान भूमि' का महत्तम आधार मानना ही पड़ेगा। हम तटस्थ होकर इस बात पर गौर करें तो हम पायेंगे हाँ भारतीय भाषाओं की अंतः संबद्धता का कोई सूत्र है जो एक दूसरे से जुड़ा हुआ है।

इसीलिए अनेक भाषाशास्त्री मूल भाषा के रूप में विश्व की भाषाओं में से एक मानते हैं। यह एकदम अलग प्रश्न है कि अभिव्यक्ति की पूर्णता को लेकर होने वाली बहस में हम प्राचीनता को कोई विशेष मूल्य नहीं देते क्योंकि हमारे पास सदियों के भाषा व्यवहार में आए परिवर्तनों के अध्ययन के वैज्ञानिक सूत्र उपलब्ध नहीं हैं। तथापि कई भाषाशास्त्री परिवर्तनों की प्रक्रिया के कालखण्डों की चर्चा करते हुए यह भी स्वीकारते हैं कि भाषाओं को प्रभावित करने वाले तकनीकी आधार भी परिवर्तित होते रहते हैं।

स्मृति शेष

भारतीय भाषाएँ इसी अर्थ में एक अलग-सी इकाई हैं विगत दिनों में साहित्य-समाज एवं संस्कृति के क्षेत्र में विविध विचारों के निधन से अपूरणीय क्षति हुई है। यह क्षति आपे बड़ाय नहीं कर सकती है कि यह कथाकार शरण बन्धु, राजनयिक और कवि भारत के अनेक विदेशी वाजपेयी, नोबेल पुरस्कार प्राप्तकर्ता भारतीय मूल के लेखक वी. एस. नायपाल एवं हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कवि गोपालदास नौरज के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाँजलि प्रेषित करता हूँ। 'सुनतल' परिवार !

में भी देखा जा सकता है जो आज भी विद्यमान हैं। इसमें संदेह नहीं कि एशियाई भाषाओं पर पड़े प्रभाव का अध्ययन जब भी होगा तब नये निष्कर्ष सामने आयेंगे और वे नये निष्कर्ष एशिया के लोक की विस्मृति के बारे में नई सूचनाओं से एशिया की भाषाओं को समृद्ध करेगा।

Dr. Jyoti K. (d_c - 112, gmcw nml) @mchm072019, F110019, 9312505250

हिन्दी आन्दोलन के भटकाव

डॉ. अमरनाथ

हिन्दी में एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे लेखकों की है जिन्होंने अपने लेखकीय जीवन का बड़ा हिस्सा हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा के लिए समर्पित कर दिया है। ऐसे लेखकों को हिन्दी के आलोचकों ने अपनी पाँत में नहीं रखा, दूसरी ओर तकनीकी दृष्टि से भाषाविज्ञान के क्षेत्र में न होने के कारण इनका लेखन भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी नहीं शामिल किया जाता। जबकि मेरी दृष्टि में साहित्य के आलोचकों की तुलना में इनका लेखन समाज के लिए अधिक मूल्यवान है। यदि भाषा ही नहीं बचेगी तो साहित्य भला कैसे बचेगा ?

भाषा, संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण घटक होती है। किसी भी जाति की संस्कृति को मिटा दें तो वह जाति खत्म हो जाती है और उस जाति की संस्कृति को खत्म करने का सबसे सरल उपाय है उसकी भाषा को नष्ट करना। पराई भाषा को ओढ़ने- बिछाने वाली जाति अपना स्वाभिमान, अपनी जातीय अस्मिता सबकुछ स्वयं ही खो देती है। गुलाम मानसिकता उसका संस्कार बन जाता है। एक गुलाम व्यक्ति ही सोचता है कि यदि वह मालिक की जवान बोलेंगे तो वह फायदे में रहेगा।

अपनी स्वाधीनता के लिए जब भी कोई जाति संघर्ष करती है तो प्रकारान्तर से वह अपनी भाषा और संस्कृति की लड़ाई भी साथ-साथ लड़ती है। भारत की संस्कृति दुनिया की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। यह संस्कृति प्रमुखतः जिस भाषा में अभिव्यक्त होती रही वह संस्कृत भाषा भी दुनिया की सबसे प्राचीन, सबसे समृद्ध और सबसे वैज्ञानिक भाषाओं में से एक है। पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' जैसा पुष्ट और परिपूर्ण व्याकरण ग्रंथ दुनिया की अन्य किसी भाषा के पास नहीं है। किन्तु ग्यारहवीं सदी के बाद तुर्कों, मुगलों, पठानों आदि के आगमन और उनके शासन के बाद इस देश की राजभाषा फारसी हो गई और उसके बाद अंग्रेजों के आने के बाद अंग्रेजी। इस देश में लगभग छः सौ वर्ष तक फारसी राज-काज की भाषा रही और उसके बाद अंग्रेजी। दुख इस बात का है कि अंग्रेजों के जाने के बाद उनकी अंग्रेजीयत जस की तस बनी रही और आज भी हम सही अर्थों में आजाद नहीं हो पाए।

संवैधानिक स्वरूप पर सवाल - दरअसल स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान आजादी की जो अवधारणा तमाम स्वतंत्रता-सेनानियों के मन में थी वह पूरी नहीं हुई। सन् सैंतालीस में सिर्फ सत्ता का हस्तांतरण हुआ था। प्रेमचंद के शब्दों में गद्दी पर 'जॉन' की जगह 'गोविन्द' बैठ गए। व्यवस्था में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ। अंग्रेजी सदा शोषकों की भाषा रही है, सत्ताधारी वर्ग की भाषा रही है। देशी अंग्रेज जब गद्दीनसीन हुए तो उन्होंने विरासत में मिली भाषा को सिर आंखों पर बिठाया। देश

की बहुसंख्यक जनता को दिग्भ्रमित करने के लिए उन्होंने हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकृति तो दी पर साथ साथ सह राजभाषा के रूप में अगले पंद्रह वर्ष तक अंग्रेजी को भी यथावत चलते रहने की इजाजत दे दी, इस आश्वासन के साथ कि अगले पंद्रह वर्ष के भीतर हिन्दी को इस लायक बना दिया जाएगा कि वह अंग्रेजी की जगह ले सके। संविधान की धारा ३४३ (१) के अनुसार संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। किन्तु इसी धारा के खण्ड (२) में लिख दिया गया कि, खण्ड (१) में किसी बात के होते हुए भी, इस संविधान के प्रारंभ से पंद्रह वर्ष की कालावधि के लिए संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी जिनके लिए ऐसे प्रारंभ के ठीक पहले वह प्रयोग की जाती थी। नतीजा जो होना था वह सामने है। दुनिया में न तो ऐसा पहले कभी हुआ है और न हो सकता है कि भाषा का पहले विकास किया जाय और बाद में उसकी प्रतिष्ठा हो। वस्तुतः भाषा की पहले प्रतिष्ठा होती है बाद में उसका विकास हो जाया करता है। अंग्रेजों के शासन काल में हमारे देश के राजकाज की भाषा अंग्रेजी थी, सरकारी मुलाजिमों को इसका अभ्यास था। यदि हमें विकल्प चुनने का अधिकार हासिल हो तो स्वाभाविक है हम आसान विकल्प ही चुनेंगे। अंग्रेजी में काम करने का अभ्यस्त व्यक्ति हिन्दी में काम करने की नई समस्याएं क्यों मोल लेगा यदि उसमें कोई अतिरिक्त आकर्षण न हो? सत्ता की कुर्सी पर बैठे अभी कुछ ही दिन बीते थे कि नेताओं की राष्ट्रीय चेतना, सत्ता और स्वार्थ की भेंट चढ़ गई। पंद्रह वर्ष की निर्धारित अवधि आने के पहले ही राजभाषा अधिनियम १९६३ लाकर यह सुनिश्चित कर दिया गया कि संविधान के प्रारंभ से पंद्रह वर्ष की कालावधि की समाप्ति हो जाने पर भी, हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा, नियत दिन से ही (क) संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए जिनके लिए वह उस दिन से ठीक पहले प्रयोग में लाई जाती थी, तथा (ख) संसद में कार्य के संव्यवहार के लिए प्रयोग में लाई जाती रह सकेगी।

इस तरह पंद्रह वर्ष की निर्धारित अवधि बढ़ती गई और आज छः दशक बीत जाने के बावजूद स्थिति जस की तस है। प्रतिवर्ष हजारों करोड़ रूपए सरकारी कार्यालयों में हिन्दी का प्रयोग बढ़ाने के नाम पर बरबाद होते हैं, मगर दशा में सुधार की कौन कहे, स्थिति दिन प्रति दिन प्रतिकूल होती जा रही है।

वर्षों से हिन्दी शिक्षण योजना के माध्यम से सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी सिखाई जा रही है और उन्हें प्राज्ञ तथा प्रवीण प्रमाण पत्र दिए जा रहे हैं किन्तु उनसे हिन्दी में काम कराने की कोई पहल नहीं की जा रही है। हिन्दी के नाम पर सारे बजट रोक दिए जाएं और सिर्फ इतना किया जाय कि हिन्दी में काम करने की योग्यता रखने वाला कर्मचारी यदि हिन्दी में काम नहीं करता है तो उसकी वेतन वृद्धि एक दो वर्ष न दी जाय और जो हिन्दी में काम करते हैं उन्हें एक-दो अतिरिक्त वेतनवृद्धि का प्रावधान कर दिया जाय तो स्थिति बदलते देर नहीं लगेगी और इसपर खर्च भी नहीं आएगा। किन्तु सरकार की नीयत में ही खोट है, वह राजभाषा के लिए ऐसे किसी दण्ड या पुरस्कार की योजना नहीं लाने जा रही है। उल्लेखनीय है कि संविधान के अनुच्छेद ३४४ के आधार पर हिन्दी के प्रसार को बढ़ाने के लिए ७ जुलाई १९५५ को एक राजभाषा आयोग की नियुक्ति हुई थी जिसके अध्यक्ष एक अहिन्दी भाषी श्री बाल गंगाधर खेर थे। इस आयोग ने जुलाई १९५६ में अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत कर दिया था जिसमें सिफारिश की गई थी कि राजभाषा में निर्धारित काम न करने वाले कर्मचारियों या अधिकारियों के लिए कुछ दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए और जो न्यूनतम स्तर से अधिक काम करते हैं उन्हें प्रोत्साहन और पुरस्कार दिया जाना चाहिए। बाद में यह प्रतिवेदन पुनरीक्षण के लिए जब संसदीय समिति के पास पहुँचा तो उसने दण्ड की व्यवस्था वाले इस प्रावधान पर रोक लगा दी। इस संसदीय समिति के अध्यक्ष एक हिन्दी भाषी श्री गोविन्द वल्लभ पंत थे। सचाई यही है कि हिन्दी भाषियों ने ही हिन्दी का सबसे ज्यादा अहित किया है।

आज हमारे देश में अंग्रेजी माध्यम वाले प्राइवेट काव्नेन्ट स्कूलों की बाढ़ आ गई है। शहर हो या देहात, हिन्दी माध्यम के सरकारी स्कूल या तो टूट रहे हैं या अंग्रेजी माध्यम में बदल रहे हैं। हालत यह है कि कई राज्य सरकारें भी अभिभावकों की मांग का हवाला देकर सरकारी विद्यालयों को भी अंग्रेजी माध्यम में बदल रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पूरे देश में अब सम्पूर्ण शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से होने जा रही है।

कारण यह है कि जब चपरासी तक की नौकरियों में भी अंग्रेजी अनिवार्य रहेगी तो अंग्रेजी की माँग बढ़ेगी ही। यह एक ऐसा मुल्क बन चुका है जहाँ का नागरिक चाहे देश की सभी भाषाओं में निष्णात हो किन्तु एक विदेशी भाषा अंग्रेजी न जानता हो तो उसे इस देश में कोई नौकरी नहीं मिल सकती

और चाहे वह इस देश की कोई भी भाषा न जानता हो और सिर्फ एक विदेशी भाषा अंग्रेजी जानता हो तो उसे इस देश की छोटी से लेकर बड़ी तक सभी नौकरियाँ मिल जाएंगी। छोटे से छोटे पदों से लेकर यू.पी.एस.सी. तक की सभी भर्ती परीक्षाओं में अंग्रेजी का दबदबा है।

व्यवहार ही किसी भी सिद्धांत को परखने की कसौटी होता है। हमारे संविधान का उक्त प्रावधान व्यवहार पर खरा नहीं उतरा। ऐसी दशा में हमारे संविधान की धारा ३४३ पर पुनर्विचार की जरूरत है। इतना ही नहीं, भारत के संविधान की धारा ३४८ और ३५१ पर भी पुनर्विचार की जरूरत है। हमारे संविधान की धारा ३४८ हमें अपनी भाषा में न्याय पाने के मौलिक अधिकार से भी हमें वंचित करता है। उच्चतम न्यायालय से लेकर सभी उच्च न्यायालयों में सारी बहसों और फैसले सिर्फ अंग्रेजी में होने का प्रावधान है। यह ऐसा तथाकथित आजाद मुल्क है जहां के नागरिक को अपने बारे में मिले फैसले को समझने के लिए भी वकील के पास जाना पड़ता है और उसके लिए भी वकील को पैसे देना पड़ता है। मुकदमों के दौरान उसे पता ही नहीं होता कि वकील और जज उसके बारे में क्या सवाल-जबाब कर रहे हैं।

वस्तुतः प्रत्येक राज्य के उच्च न्यायालयों द्वारा उस राज्य की राज भाषा में न्याय देने का प्रावधान सुनिश्चित होना चाहिए तथा उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के समस्त आदेश, नियम, विनियम आदि के हिन्दी अथवा उस राज्य की राजभाषा के पाठ को ही प्राधिकृत पाठ माना जाना चाहिए। इसी तरह धारा ३५१ में स्पष्ट उल्लेख है कि अपने शब्द भंडार को बढ़ाने के लिए हिन्दी मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः अन्य भारतीय भाषाओं से शब्द ग्रहण करेगी। संविधान की इस धारा का दुष्परिणाम यह हुआ है कि सरकारी कार्यालयों में प्रयुक्त होने वाली हिन्दी अत्यंत कृत्रिम और दुरूह हो चुकी है। आजादी के बाद होने वाले भाषा वैज्ञानिक शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि संस्कृत कभी आम जनता की भाषा नहीं रही और न तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं संस्कृत की बेटियां हैं। आज यह प्रमाणित हो चुका है कि हिन्दी पर संस्कृत से ज्यादा लोक भाषाओं का प्रभाव है। इसलिए संविधान की उक्त धारा में इस तरह का स्पष्ट संशोधन होना चाहिए कि हिन्दी अपने शब्द भंडार के विकास के लिए मुख्यतः आधुनिक लोक भाषाओं से और गौणतः संस्कृत से शब्द ग्रहण करे।

आज की सरकारी हिन्दी सिर्फ अनुवादी हिन्दी है। इसके स्वरूप निर्धारण में प्रो. रघुवीर की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वाभाविक रूप से उन्होंने संविधान का अनुकरण किया था। अब समय आ गया है कि हम इस मुद्दे पर पुनर्विचार के लिए सरकार तक अपनी आवाज पहुंचाएं। आज यह प्रमाणित हो चुका है कि संस्कृत भारतीय भाषाओं की जननी नहीं है। बल्कि भारत की सारी भाषाएं उतनी ही पुरानी हैं जितनी संस्कृत। वस्तुतः काल के प्रवाह में भाषाओं के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है और इस तरह भाषाएं बदलती रही हैं और इसे ही भाषाओं के जन्म के रूप में रेखांकित किया जाता रहा है। दुनिया में भाषाएं सिर्फ मर रही हैं। भाषाओं का जन्म नहीं होता। भारतीय भाषाओं ने संस्कृत से शब्द जरूर ग्रहण किए हैं, किन्तु इस आधार पर वह सबकी जननी नहीं हो जाती। वैसे भी भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार संस्कृत से वर्तमान हिन्दी तक पहुंचने के लिए उसे पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से होकर गुजरना पड़ा है। इस तरह हिन्दी संस्कृत की प्रपौत्री हो सकती है बेटी तो कतई नहीं। प्रो. रघुवीर यह भी मानते थे कि कोई भी शब्द सरल या कठिन नहीं होता, प्रयोग में आने के बाद शब्द आसान हो जाते हैं। उनकी इस अवधारणा का भी प्रतिकूल असर पड़ा। जो शब्द आसान और जनता में पहले से प्रचलित होते हैं उन्हें अपना आसान होता है बरक्स उनके जिन्हें अभी प्रचलित करना है। आज सरकारी हिन्दी जनता से कट गई है। अब बोलचाल और सरकारी कार्यालयों के लिए अलग-अलग हिन्दी है।

राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी और महात्मा गाँधी

थोड़ी चर्चा हम सन् १९४९ में होने वाले संविधान सभा के बहसों को लेकर भी करना चाहते हैं जिसके परिणामस्वरूप धारा ३४३ वजूद में आया और भारत संघ की राजभाषा 'देवनागरी लिपि' में लिखी जाने वाली 'हिन्दी' तय की गई। १२ सितंबर से १४ सितंबर १९४९ तक लगातार चलने वाली संविधान सभा की यह बहस दो दृष्टियों से अभूतपूर्व थी। एक तो सदस्यों की इतनी बड़ी उपस्थिति अन्य किसी मुद्दे पर होने वाली बहसों में नहीं हुई थी और दूसरी यह कि किसी एक विषय पर इतनी लम्बी बहस भी कभी नहीं चली थी। इस बहस में सबसे अहम मुद्दा था हिन्दुस्तानी और हिन्दी में से किसी एक को राजभाषा बनाने का मुद्दा। हम सभी जानते हैं कि गाँधी जी हिन्दुस्तानी के समर्थक थे। हिन्दी के लिए दशकों पहले से

उन्होंने जो प्रयास किया था उसी का परिणाम था कि दक्षिण में ही नहीं, समूचे भारत में हिन्दी के पक्ष में वातावरण तैयार हो गया था। हिन्दी के हित में लगातार काम करते हुए गाँधी जी ने अपनी अवधारणा को अपने अनुभवों से और अधिक पुष्ट किया और निर्णय लिया कि देश की राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी होनी चाहिए जिसे हिन्दी और उर्दू (फारसी) दोनों लिपियों में लिखा जा सकता है। जो जिस लिपि को जानता है वह उसी लिपि में लिखे। गाँधी जी को इस तथ्य की भली भाँति पहचान हो गई थी कि जिस भाषा को उत्तरी भारत में आम लोग बोलते हैं, उसे चाहे उर्दू कहें चाहे हिन्दी, दोनों एक ही भाषा है। यदि उसे फारसी लिपि में लिखें तो वह उर्दू भाषा के नाम से पहचानी जाएगी और नागरी में लिखें तो वह हिन्दी कहलाएगी। इसीलिए उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' कहकर इन दोनों के समन्वय का उपयुक्त मार्ग ढूँढ लिया था।

इस हिन्दुस्तानी के इतिहास को भी थोड़ा देखें। हिन्दी का पहला व्याकरण हालैंड निवासी जॉन जोशुआ केटलर (John Joshua Ketler) ने औरंगजेब के शासन काल में अर्थात् १६९८ ई. में डच भाषा में की थी। इस व्याकरण ग्रंथ का नाम है, हिन्दुस्तानी ग्रामर। यह पुस्तक फिलहाल उपलब्ध नहीं है किन्तु डेविड मिल द्वारा लैटिन में अनूदित इसके अनुवाद का विस्तृत विश्लेषण डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने अपने एक लेख में की है। यह पुस्तक उन्हें लंदन में मिली थी। (द्रष्टव्य, द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२८ ई, 'हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण' शीर्षक लेख, पृष्ठ-१९७)। 'राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का हिन्दी व्याकरण' शीर्षक पुस्तक का संपादन करते हुए उसकी प्रस्तावना में डॉ. रामनिरंजन परिमलेन्दु ने लिखा है, केटलर के कालखण्ड (१६९८ ई. के पूर्व) में हिन्दी भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का ही व्यवहार किया जाता था। (प्रस्तावना, पृष्ठ-४, प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी)। किन्तु सच यह है कि उसके बाद भी लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक हिन्दी- व्याकरण के नाम पर जो व्याकरण- ग्रंथ उपलब्ध हैं वे सब के सब हिन्दुस्तानी के ही हैं। बेंजामिन शुल्जे (Benjamin Schulz) द्वारा लैटिन भाषा में लिखित और १७४५ ई. में प्रकाशित व्याकरण ग्रंथ का नाम है, 'ग्रामेटिका हिन्दोस्तानिका' (Grammatica Hindostanica)। जॉन फार्गुसन (John Ferguson) ने 'ए डिक्शनरी आफ द हिन्दुस्तानी लैंग्वेज'

के नाम से हिन्दुस्तानी भाषा का शब्दकोश बनाया जो १७७३ ई. में लंदन से प्रकाशित हुआ। इसी पुस्तक में हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण भी समाविष्ट है। शब्दकोश की भूमिका में फार्गुसन ने कहा था कि हिन्दुस्तानी ही देश अर्थात् भारत की सर्वमान्य भाषा है जिसे देश की सभी श्रेणियों और पेशे के लोग, शिक्षित-अशिक्षित, दरबारी और किसान, हिन्दू- मुसलमान समान रूप से समझते हैं। (द्रष्टव्य, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का हिन्दी व्याकरण, संपादक. रामनिरंजन परिमलेन्दु, प्रस्तावना, पृष्ठ- ६) और जिसे हम हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास कहते हैं वह फ्रेंच इतिहासकार गार्सा द तासी (Garsan de tassy) का 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐंदुई ऐंदुस्तानी' नाम से दो खण्डों में प्रकाशित हुआ था। एक खण्ड १८३९ में और दूसरा खण्ड १८४६ में प्रकाशित हुआ था। इसे हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास कहा जाता है किन्तु है यह वास्तव में हिन्दुई और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास। इसमें हिन्दी और उर्दू (आज के अर्थ में) का अलग अलग भाषा के अर्थ में भेद नहीं किया गया है।

इससे भी पहले सन् १८०० में ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासनकाल में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज बना। हमारे देश में वास्तव में आधुनिक काल में खुलने वाला यह पहला शिक्षण संस्थान था। इसके पहले कोई विश्वविद्यालय हमारे देश में नहीं खुला था। कलकत्ता विश्वविद्यालय इस देश का पहला आधुनिक विश्वविद्यालय है जिसकी नींव १८५७ में पड़ी थी। फोर्ट विलियम कॉलेज में जिस हिन्दी विभाग के खुलने की चर्चा की जाती है, वह वास्तव में हिन्दुस्तानी विभाग था। जॉन गिलक्रिस्ट (John Worthwick Gilchrist) की नियुक्ति १८०१ ई. में वास्तव में वहाँ हिन्दुस्तानी के प्रोफेसर के रूप में हुई थी। उनकी व्याकरण की पुस्तक का नाम है, 'ए ग्रामर आफ द हिन्दुस्तानी लैंग्वेज', जो १७९० ई. में प्रकाशित ही थी। उनकी एक और पुस्तक का नाम है, 'द स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडिया गाईड टु हिन्दुस्तानी', जो १८०२ में प्रकाशित हुई थी। रोएबक (Roabuck) द्वारा लिखित 'एन इंग्लिश ऐण्ड हिन्दुस्तानी डिक्शनरी टू द्विच इज प्रिफिक्स्ट ए शार्ट ग्रामर आफ हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' का प्रकाशन भी कलकत्ता से ही १८०१ ई. में हुआ था। इतना ही नहीं, जॉन शेक्सपियर (Joan Shakespear) का 'ए ग्रामर आफ द हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' का प्रथम संस्करण भी १८१३ ई. में लंदन से प्रकाशित हुआ था। उनकी एक और

पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टु द हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' भी १८४५ ई. में प्रकाशित हुई थी। विलियम येट्स (W.B. Yeats) द्वारा लिखित 'इंट्रोडक्शन टु द हिन्दुस्तानी लैंग्वेज', का प्रकाशन कलकत्ता से १८२४ ई. में हुआ था। डंकन फोर्ब्स (D. Forbes) कृत 'हिन्दुस्तानी मैनुअल' १८४५ ई. में लंदन से छपा। ई.बी.इस्टविक (E.B. Eastwick) लिखित 'ए कन्साइज ग्रामर आफ द हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' १८४७ ई. में लंदन से प्रकाशित हुआ और मोनियर विलियम्स (Monier Williams) जैसे प्रसिद्ध विद्वान का भी 'रूडिमेंट्स आफ हिन्दुस्तानी ग्रामर' नामक व्याकरण ग्रंथ १८५८ ई. में इंग्लैण्ड से छपा। इसके अलावा इनका 'ए प्रेक्टिकल हिन्दुस्तानी ग्रामर' शीर्षक व्याकरण ग्रंथ भी लंदन से १८६२ ई. में प्रकाशित हुआ।

क्या इतने व्याकरण-ग्रंथों, शब्द-कोशों आदि का उल्लेख करने के बाद भी इस बात में कोई संदेह रह जाता है कि उस काल खण्ड में हिन्दुस्तान की आम बोलचाल की भाषा हिन्दुस्तानी ही थी? वास्तव में उस समय हिन्दवी, हिन्दई और हिन्दुस्तानी एक ही भाषा के लिए प्रयुक्त शब्द थे और उनमें केवल शैली भेद ही माना जाता था। एक ओर उर्दू के प्रख्यात आलोचक गोपीचंद नारंग को अमीर खुसरो (१२५५-१३२५) की कविताओं के संकलन का नाम 'अमीर खुसरो का हिन्दवी काव्य' रखना पड़ा तो दूसरी ओर नासिख (१७५७-१८३८), सौदा (१७१३-१७८०) और मीर तकी मीर (१७२५-१८१०) आदि ने अनेक बार अपने शेरों को 'हिन्दी शेर' कहा है। मिर्जा ग़ालिब ने अपने खतों में उर्दू, हिन्दी तथा रेखाँ को कई स्थलों पर समानार्थी शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है। मीर का एक मशहूर शेर है,

**क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे कल्ब
आया नहीं है लब्ज ये हिन्दी जबाँ के बीचा**

बहरहाल, फोर्ट विलियम कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग के प्रोफेसर जॉन गिलक्रिस्ट के अनुसार उस समय हिन्दुस्तानी की तीन शैलियाँ प्रचलित थीं- १. फारसी या दरबारी शैली २. हिन्दुस्तानी शैली और ३. हिन्दवी शैली। गिलक्रिस्ट दरबारी या फारसी शैली को आभिजात्य वर्ग में प्रचलित दुरूह मानते थे और हिन्दवी शैली को 'वल्गार' यानी गँवारू। उनकी दृष्टि में हिन्दुस्तानी ही द ग्रेड पापुलर स्पीच ऑफ हिन्दुस्तान थी।

आगे चलकर इसी हिन्दुस्तानी की लड़ाई राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (१८२३-१८९५) ने भी लड़ी। वे अत्यंत सूझ-

बूझ वाले व्यक्ति थे। कचहरियों में उस समय फारसी लिपि प्रचलित थी। वे हिन्दी और उर्दू में भेद नहीं मानते थे और कचहरियों के लिए एक सर्वमान्य भाषा के प्रयोग के पक्षधर थे जिसे उन्होंने आमफहम और खास पसंद भाषा कहा है। राजा शिवप्रसाद ने भी हिन्दी व्याकरण की रचना की जो १८७५ ई. में बनारस से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने लिखा है, वाणी अर्थात् भाषा बोली को कहते हैं। यहाँ मतलब हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी बोली से है। अर्थात् जो अब हिन्द अथवा हिन्दुस्तान के सर्कार दरबार और हाट बाजार में बोली जाती है। (राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का हिन्दी व्याकरण, सं. रामनिरंजन परिमलेन्दु पृष्ठ -१८) उनकी मुख्य लड़ाई देवनागरी लिपि के लिए थी। वे कचहरियों के लिए फारसी लिपि की जगह देवनागरी लिपि के लिए कई मेमोरेण्डम दिए, जिनमें माँग की कि अदालतों की भाषा से फारसी लिपि को हटा लिया जाय और उसकी जगह हिन्दी (लिपि) को लागू किया जाय। १८३७ ई. में हिन्दी और देवनागरी लिपि को कचहरियों में जो प्रतिष्ठा मिली उसमें राजा शिवप्रसाद की प्रमुख भूमिका थी। किन्तु इतिहास में उन्हें खलनायक की तरह चित्रित किया गया है और उनका ऐसा चरित्र निर्मित करने में भारतेन्दु और उनके मंडल की प्रमुख भूमिका थी। भारतेन्दु मंडल के लेखकों ने आरोप लगाया कि वे देवनागरी में खालिस उर्दू लिखते हैं सितारेहिन्द का खिताब मिलने पर उन्हें अंग्रेजों का चापलूस कहा गया जबकि भारतेन्दु ने स्वयं लार्ड रिपन की प्रशंसा में 'रिपनाष्टक' लिखा।

पता नहीं, गाँधी जी को हिन्दुस्तानी के इस इतिहास की जानकारी थी या नहीं, किन्तु अपने अनुभवों से वे भली-भाँति समझ चुके थे कि इस देश की एकता को कायम रखने में हिन्दुस्तानी बड़ी भूमिका अदा कर सकती है और इसी में निर्विवाद रूप से इस देश की राष्ट्रभाषा बनने की क्षमता है।

उनके प्रयास से १९२५ में संपन्न हुए कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में प्रस्ताव पास हुआ कि उस तिथि से कांग्रेस की सारी कार्यवाहियाँ हिन्दुस्तानी में होंगी और इस प्रस्ताव के साथ वे आजावन सख्ती के साथ जुड़े रहे। गाँधीजी ने हिन्दुस्तान के नेताओं को हिन्दी बोलना सिखाया। हम ऊपर कह चुके हैं कि गाँधी जी हिन्दी और हिन्दुस्तानी में कोई अन्तर नहीं मानते थे। हिन्दी भाषा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है, हिन्दी भाषा मैं उसे कहता हूँ, जिसे उत्तर में हिन्दू और मुसलमान

बोलते हैं और देवनागरी या फारसी (उर्दू) लिपि में लिखते हैं। ऐसी दलील दी जाती है कि हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग भाषाएं हैं। यह दलील सही नहीं है। उत्तर भारत में मुसलमान और हिन्दू एक ही भाषा बोलते हैं। भेद पढ़े लिखे लोगों ने डाला है..... मैं उत्तर में रहा हूँ, हिन्दू मुसलमानों के साथ खूब मिला जुला हूँ और मेरा हिन्दी भाषा का ज्ञान बहुत कम होने पर भी मुझे उन लोगों के साथ व्यवहार रखने में जरा भी कठिनाई नहीं हुई है। जिस भाषा को उत्तरी भारत में आम लोग बोलते हैं, उसे चाहे उर्दू कहें चाहे हिन्दी, दोनों एक ही भाषा की सूचक है। यदि उसे फारसी लिपि में लिखें तो वह उर्दू भाषा के नाम से पहचानी जाएगी और नागरी में लिखें तो वह हिन्दी कहलाएगी। (सम्पूर्ण गाँधी वांग्मय, खण्ड- १०, पृष्ठ-२९)। बाद में जब हिन्दी और उर्दू का कृत्रिम भेद गहराया और उसे मजहबी रंग दिया जाने लगा तो उन्होंने हिन्दुस्तानी के पक्ष में दलील देनी शुरू की।

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन से इसी मुद्दे को लेकर उनका विवाद चला और लम्बे पत्राचार के बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा। इन सारे विवादों के पीछे की राजनीति का विश्लेषण करते हुए काका साहब कालेलकर ने लिखा है, हिन्दी का प्रचार करते हम इतना देख सके कि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन को उर्दू से लड़कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना है और गाँधी जी को तो उर्दू से जरूरी समझौता करके हिन्दू-मुस्लिमों की सम्मिलित शक्ति के द्वारा अंग्रेजी को हटाकर उस स्थान पर हिन्दी को बिठाना था। इन दो दृष्टियों के बीच जो खींचातानी चली, वही है गाँधीयुग के राष्ट्रभाषा प्रचार के इतिहास का सार। (हिन्दी : मत अभिमत, विमलेशकान्ति वर्मा, पृष्ठ-१६५)

खेद है कि संविधान सभा में होने वाली बहस के पहले ही गाँधी जी की हत्या हो गई। देश का विभाजन भी हो गया था और पाकिस्तान ने अपने देश की राष्ट्रभाषा उर्दू को घोषित कर दिया था। इन परिस्थितियों का गंभीर प्रभाव संविधान सभा की बहसों और होने वाले निर्णयों पर पड़ा। हिन्दुस्तानी और हिन्दी को लेकर सदन दो हिस्सों में बंट गया। गाँधी जी के निष्ठावान अनुयायी जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुल कलाम आजाद सहित दक्षिण के डॉ. पी. सुब्बारायन, टी.टी. कृष्णामाचारी, टी.ए. रामलिंगम चेट्टियार, एन. जी. रंगा, एन. गोपालस्वामी आयरंगर, एस. बी. कृष्णमूर्ति राव, काजी सैयद करीमुद्दीन,

जी। दुर्गाबाई आदि ने हिन्दुस्तानी का समर्थन किया तो दूसरी ओर राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन, सेठ गोबिन्द दास, रविशंकर शुक्ल, अलगूराय शास्त्री, सम्पूर्णानंद, के. एम. मुंशी आदि ने हिन्दी का। बहुमत हिन्दी के पक्ष में था और संविधान सभा ने प्रचंड विरोध के बावजूद देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी को संघ की राजभाषा तय कर दिया।

आज सत्तर वर्ष बाद जब हम संविधान सभा के उक्त निर्णय के प्रभाव का मूल्यांकन करते हैं तो हमें लगता है कि हिन्दी को इसके लिए बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है। दक्षिण के हिन्दी विरोध का मुख्य कारण यही है। जो लोग पहले गाँधी जी के प्रभाव में आकर हिन्दी का प्रचार कर रहे थे वे ही बाद में हिन्दी के विरोधी हो गए और हिन्दी विरोध का नेतृत्व करने लगे। इतना ही नहीं, हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा न देकर उसे राजभाषा तक सीमित करने के पीछे भी अहिन्दी भाषी सदस्यों की यही नाराजगी काम कर रही थी। संविधान सभा में होने वाली बहसों को पलटकर देखने पर तो यही लगता है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि गाँधी जी के प्रभाव और प्रयास का ही फल था कि दक्षिण में व्यापक रूप से हिन्दी का प्रचार हुआ। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने मद्रास प्रेसीडेंसी का मुख्यमंत्री रहते हुए १९३७ में ही दक्षिण में हिन्दी अनिवार्य कर दिया था। विरोध होने पर विरोधियों के लिए क्रिमिनल लाॅ लागू करने में भी संकोच नहीं किया और हजारों विरोधियों को जेल में डाल दिया था। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी गाँधी जी के समर्थी थे। गाँधी जी के सुपुत्र देवदास गाँधी की शादी सी. राजगोपालाचारी की बेटी से उसी दौर में हुई थी जब देवदास गाँधी हिन्दी का प्रचार करने दक्षिण गए थे। ऐसी दशा में गाँधीजी के प्रस्ताव के विपरीत यदि कोई प्रस्ताव आता है तो दक्षिण भारत के गाँधी जी के अनुयायियों से भला समर्थन की उम्मीद कैसे की जा सकती है?

गाँधी जी की प्रख्यात अनुयायी श्रीमती जी. दुर्गाबाई, जिनकी कानून की शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हुई थी, मद्रास हाई कोर्ट की वकील थीं, आन्ध्र महिला सभा की सचिव थीं और जिन्होंने कोकानाड़ा में महिला हिन्दी विद्यालय की स्थापना किया था, ने तो सदन में इस ओर स्पष्ट संकेत किया था। मैं उनके वक्तव्य का कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ, श्रीमान् भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी के अतिरिक्त, जो हिन्दी तथा उर्दू का योग है, कुछ और नहीं होनी चाहिए और

कुछ हो भी नहीं सकती। ...कदाचित टंडन जी, सेठ गोविन्द दास जी आदि नहीं जानते और उन्हें पता नहीं है कि दक्षिण में हिन्दी भाषा का कितना प्रबल विरोध हुआ है। विरोधी यह समझते हैं, शायद ठीक ही समझते हैं कि यह हिन्दी के पक्ष का आन्दोलन प्रान्तीय भाषाओं की जड़ खोदता है और यह प्रान्तीय भाषाओं और प्रान्तीय संस्कृति के विकास के लिए गंभीर बाधा है। श्रीमान्, दक्षिण में हिन्दी विरोधी आन्दोलन बहुत प्रबल है। मेरे मित्र, डॉ. सुब्बारायन ने इस विषय में कल विस्तृत बातें बताई थीं। किन्तु हमने, हिन्दी के समर्थकों ने क्या किया? हमने विकट आन्दोलन का सामना किया और दक्षिण में हिन्दी का प्रचार किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पंडितों ने भारत की राष्ट्रभाषा बनाने की आवश्यकता समझी, उससे बहुत पहले हम दक्षिणात्यों ने महात्मा गाँधी के आदेश का पालन किया और दक्षिण में हिन्दी प्रचार आरंभ किया था। हमने पाठशालाएँ चालू कीं और कक्षाएँ आरंभ की। इस प्रकार बहुत असुविधा से हम हिन्दी के प्रचार और शिक्षा में बहुत पहले ही लग गए थे।

श्रीमान्, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रयत्नों के अतिरिक्त, मुझे इस संबंध में दक्षिण की स्त्रियों और बच्चों की भूरि भूरि प्रशंसा करनी चाहिए कि वे हिन्दी सीखने में बहुत लगन से और सच्चे दिल से लगे रहे। श्रीमान्, गाँधी जी के प्रयत्नों और प्रभाव से महाविद्यालयों के विद्यार्थियों में ऐसा जोश था कि दिन भर महाविद्यालयों में कठोर श्रम करने के पश्चात् वे इस भाषा को सीखने के लिए सायंकाल हिन्दी कक्षाओं में आते थे। केवल विद्यार्थी ही नहीं, वकील, न्यायालय के समय के पश्चात्, पदाधिकारी अपने कार्यालय के कार्य की समाप्ति के पश्चात्, सायंकाल में मनोरंजन के स्थानों पर न जाकर हिन्दी कक्षाओं में आकर हिन्दी सीखते थे। मैं आप को यह बात इसलिए कह रही हूँ कि मैं यह सिद्ध करना चाहती हूँ कि हमने महात्मा गाँधी के आदेश और अनुरोध पर हिन्दी प्रचार का कार्य कितने सच्चे दिल से और ईमानदारी से आरंभ किया था।

मेरे मित्रों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह सब कुछ हमने राष्ट्रीय भावनाओं को पूरा करने के लिए स्वेच्छा से किया था। इस संबंध में मैं सेठ जमनालाल बजाज द्वारा १९२३ में वहाँ जाने का निर्देश करना चाहती हूँ। उस वर्ष जब सेठ जी काँग्रेस सत्र के लिए कोकीनाड़ा गए थे तब वे कुछ महिला

संस्थाओं को देखने गए थे और उन्होंने वहाँ सैकड़ों महिलाओं को हिन्दी पढ़ते देखा था। याद रखिए, श्रीमान् यह बात १९२३ की है। सेठ जी महिलाओं को हिन्दी सीखते देख कर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उस संस्था को एक महान राशि दान देनी चाही। पर संस्था ने उस दान को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि हम भी यह अनुभव करते हैं कि हमारी एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। अतः हम अपने ही प्रयत्नों से इस पाठशाला को चला रहे हैं। हमने इसी भावना से कार्य किया था।

अब इसका परिणाम क्या है? अब मुझे आश्चर्य है कि हमने इस शताब्दी के आरंभ में जिस जोश के साथ हिन्दी अपनायी थी, उसके विरुद्ध इतना आन्दोलन हो रहा है। श्रीमान्, अहिन्दी भाषी लोगों की भावनाओं में कटुता लाने का कारण आप का यह दृष्टिकोण है कि आप शुद्धतः एक प्रान्तीय भाषा को राष्ट्रीय रूप देना चाहते हैं। मुझे भय है कि इससे निश्चय ही उनके भावों और भावनाओं पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, जिन्होंने पहले ही देवनागरी लिपि में हिन्दी को स्वीकार कर लिया है। संक्षेप में उनके इस अत्यधिक और कुप्रयुक्त प्रचार के कारण मेरे समान लोगों का समर्थन भी अब प्राप्त नहीं रहा जो हिन्दी जानते हैं और हिन्दी के समर्थक हैं।

मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि राष्ट्रीय एकता के हितार्थ हिन्दुस्तानी ही भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है। (उद्धृत, हिन्दी : राष्ट्रभाषा से राजभाषा तक, विमलेश कान्ति वर्मा, पृष्ठ-३३५)

पंजाब के सरदार हुकुम सिंह ने अपना पक्ष रखते हे कहा, विभाजन से पूर्व उर्दू और हिन्दी में राष्ट्रभाषा बनने के लिए द्वंद्व था। यदि मैं यह कह दूँ तो ये दो कट्टरताएँ थीं। उर्दू में फारसी और अरबी में से शब्द लिए जाते थे और हिन्दी में संस्कृत से। अतः दोनों में विरोध था। मेरा तो यह विश्वास है कि इसी कारण एक सामान्य भाषा बनाने का प्रयत्न किया गया था और उसका नाम हिन्दुस्तानी रखा गया था। फिर हमारे कुछ सदस्यों तथा बाहर के लोगों के मन में आशंका थी कि हिन्दुस्तानी शायद उर्दू का ही दूसरा नाम होगा। मेरी तुच्छ सम्मति में यह आशंका अब नहीं रही। विभाजन के पश्चात् ऐसी कोई संभावना नहीं है कि हम जो भाषा स्वीकार करेंगे, वह इतनी अबाध रूप से फारसी और अरबी से शब्द लेगी। हाँ, उनसे शब्द लेने का वर्जन नहीं होगा, किन्तु अब ऐसी कोई आशंका नहीं है कि वे मुख्य स्रोत रहेंगे। किन्तु यह आशंका हट जाए तो दूसरी आशंका है, उस भाषा के

फारसीनिष्ठ या अरबीनिष्ठ बनने का भय नहीं है तो दूसरा भय है कि उस भाषा का नाम हिन्दी रख दिया जाय पर वह संस्कृतिनिष्ठ हो। अतः हम इस भय को भी दूर कर देना चाहते हैं और ऐसा हम तब कर सकते हैं जब हम अपनी भाषा को हिन्दुस्तानी कहें, जिसे हमारे अधिकांश लोग समझ सकें, और हिन्दी न कहें जिसमें उपर्युक्त भय है। इसी कारण मैंने प्रस्ताव किया है कि वह हिन्दुस्तानी हो। (उद्धृत, हिन्दी : राष्ट्रभाषा से राजभाषा तक, विमलेश कान्ति वर्मा, पृष्ठ-३५३)

संविधान सभा में बहस करते हुए काजी सैयद करीमुद्दीन ने कहा, सन् १९४७ में इंडियन नेशनल काँग्रेस ने यह कबूल किया था कि हिन्दुस्तान की ज़बान हिन्दुस्तानी होगी जिसके दोनो उर्दू और देवनागरी रसमुलखत होंगे लेकिन आज यह फरमाया जाता है कि सिर्फ देवनागरी रसमुलखत होगा। उसकी वजह यह है जैसे कि मैं बता चुका हूँ सन् ४७ के पार्टीशन के बाद पाकिस्तान ने अपनी नेशनल ज़बान उर्दू होने का ऐलान किया और उसी के रिएक्शन की वजह से आज यहाँ हिन्दुस्तान में हिन्दी और देवनागरी रसमुलखत मुकर्रर किया जा रहा है। (उद्धृत, हिन्दी : राष्ट्रभाषा से राजभाषा तक, विमलेश कान्ति वर्मा, पृष्ठ-२३१) और अगले दिन अर्थात् १४ सितंबर को मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा, आज से तकरीबन पच्चीस वर्ष पहले जब यह सवाल आल इंडिया काँग्रेस कमेटी के सामने आया था तो मेरी ही तजबीज से उसने हिन्दुस्तानी का नाम इख्तयार किया था। मकसद यह था कि ज़बान के बारे में तंगख्वाली से काम न लें। ज्यादा से ज्यादा वसीह मैदान पैदा कर दें। हिन्दुस्तानी का लफ्ज इख्तयार करके हमने हिन्दी और उर्दू के इख्तेलाफ को भी दूर कर दिया था। क्योंकि जब आसान उर्दू और आसान हिन्दी बोलने और लिखने की कोशिश की जाती है तो दोनो मिलकर एक ज़बान हो जाती हैं। तब उर्दू और हिन्दी का फर्क बाकी नहीं रहता। (उद्धृत, हिन्दी : राष्ट्रभाषा से राजभाषा तक, विमलेश कान्ति वर्मा, पृष्ठ-३८७) मोहम्मद इस्माईल ने गाँधी जी को उद्धृत करते हे कहा कि भारत के करोड़ों ग्रामीणों को पुस्तकों से कोई मतलब नहीं है। वे हिन्दुस्तानी बोलते हैं जिसे मुस्लिम उर्दू लिपि में लिखते हैं तथा हिन्दू उर्दू लिपि या नागरी लिपि में लिखते हैं। अतएव भेरे और आप जैसे लोगों का कर्तव्य है कि दोनो लिपियों को सीखें। उद्धृत, उपर्युक्त, कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद तो पहले उर्दू में ही लिखते थे और बाद में हिन्दी में आए। हिन्दी और उर्दू को

लेकर उन्होंने 'साहित्य का उद्देश्य' नामक अपने मशहूर निबंध में लिखा है। उर्दू वह हिन्दुस्तानी ज़बान है जिसमें फारसी-अरबी के लब्ज ज्यादा हों, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है जिसमें संस्कृत के शब्द ज्यादा हों, लेकिन जिस तरह अंग्रेजी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या ऐंग्लोसेक्सन, दोनो ही अंग्रेजी है, उसी भाँति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों के मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। (साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ- १२४)

हिन्दी और हिन्दुस्तानी को लेकर गाँधी जी और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के बीच लम्बा पत्र व्यवहार हुआ था किन्तु राजर्षि टण्डन अपने हिन्दी के एजेन्डे से चिपके रहे और अंततः गाँधी जी को इसी मुद्दे को लेकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्याग पत्र देना पड़ा।

वैसे भी हिन्दुस्तानी कहने से जिस तरह व्यापक राष्ट्रीयता और सामाजिक समरता का बोध होता है उस तरह हिन्दी कहने से नहीं। जैसे पंजाबियों की पंजाबी, मराठियों की मराठी, बंगालियों की बंगाली, तमिलों की तमिल, गुजरातियों की गुजराती का बोध होता है उसी तरह हिन्दुस्तानी कहने से हिन्दुस्तानियों की हिन्दुस्तानी का बोध होता है। इस शब्द में न तो क्षेत्रीयता की गंध है और न जाति-धर्म की संकीर्णता की। निश्चित रूप से हिन्दुस्तानी की जगह हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया जाना एक बड़ी ऐतिहासिक भूल थी और इतिहास की इस भूल का भयंकर दुष्परिणाम आज भी हम झेल रहे हैं। किसी ने कहा है,

**तारीख की नजरों ने वो दौर भी देखा है,
लमहे ने खता की थी सदियों ने सजा पाई।**

इस ऐतिहासिक भूल का परिणाम हम आज भी भुगत रहे हैं। हिन्दी आज भी दक्षिण का ही नहीं, भारत के दूसरे हिस्से के लोगों का भी विरोध झेल रही है। बल्कि आज तो हिन्दी वाले ही हिन्दी का सबसे बड़े दुश्मन बन बैठे हैं।

वैश्वीकरण और हिन्दी की निर्मिति - यद्यपि हिन्दी की प्रतिष्ठा की लड़ाई भारतीय नवजागरण के दौर में शुरू हुई किन्तु खड़ी बोली हिन्दी का स्वरूप ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में ही निर्मित होने लगा था। जोशुआ मार्शमैन, विलियम वार्ड और विलियम कैरे ने विचार विमर्श करके १६ जनवरी सन् १८०० को सेरामपुर में इसाई धर्म के प्रचार के लिए मिशन की स्थापना की थी और सन् १८०१ में उसी प्रेस से 'न्यू

टेस्टामेंट' का पहला बंगला संस्करण प्रकाशित हुआ था। भारत में सबसे पहले नागरी लिपि की बड़ी टाईप का निर्माण भी सेरामपुर में ही सन् १८०३ में हुआ। इसके पूर्व सन् १८०० में ही कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी। बंगाल में हिन्दी उर्दू गद्य की नींव डालने में इस कॉलेज की अन्यतम भूमिका थी। तारिणीचरण मित्र ने 'बैताल पचीसी', लल्लू लाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेत कथा' लिखकर खड़ी बोली हिन्दी की गद्यशैली निर्धारित कर दी। इतना ही नहीं, १८५७ का आन्दोलन मुख्यतः हिन्दी के माध्यम से लड़ा गया था। धाराप्रवाह संस्कृत बोलने वाले आर्यसमाज के प्रतिष्ठापक गुजराती भाषी महर्षि दयानंद सरस्वती जब बंगाल में ब्रह्मसमाजी केशवचंद्र सेन से मिले तो सेन महाशय ने महर्षि दयानंद सरस्वती को हिन्दी सीखने की सलाह दी। यह घटना १८७२ ई. की है। उन्हीं की प्रेरणा से महर्षि दयानंद सरस्वती ने हिन्दी सीखी और अपना महान ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में लिखा। राजा राम मोहन राय स्वयं अपना 'बंगदूत' बांग्ला, अंग्रेजी और फारसी के साथ हिन्दी में भी निकाला। वैसे तो हिन्दी की प्रतिष्ठा की लड़ाई लड़ने वाले ज्यादातर अहिन्दी भाषी ही हैं किन्तु हिन्दी क्षेत्र में भी इस आन्दोलन को आगे ले जाने वालों की संख्या कम नहीं है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, मदन मोहन मालवीय, पुरुषोत्तमदास टंडन और महावीर प्रसाद द्विवेदी से लेकर यह परंपरा मुंशी प्रेमचंद से होते हुए आज तक चली आ रही है।

पिछली सदी के अन्तिम दशक में दुनिया में असाधारण घटना घटी। वह घटना थी सोवियत संघ का पतन और दुनिया भर में समाजवाद का पराभव। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दुनिया की यह सबसे बड़ी घटना थी। सोवियत संघ के पतन अर्थात् १९९० के बाद जो भूमंडलीकरण आया उससे दुनिया एक ध्रुवीय हो गई। इसका व्यापक प्रभाव हमारी भाषाओं पर भी पड़ा है। हमारा देश भी इस ग्लोबल दुनिया का एक हिस्सा बनकर विश्व- बाजार में तब्दील हो गया है। बाजार में भले ही कई भाषाएं प्रचलित हों किन्तु वर्चस्व उस भाषा की होती है जिस भाषा के बोलने वालों का बाजार पर कब्जा होता है। निस्संदेह वह भाषा अंग्रेजी है। इसलिए हिन्दी सहित इस देश की सभी भाषाएं अब हासिए पर चली गई हैं। मीडिया भी आज बाजार का एक हिस्सा है और उनके हाथों का औजार है

जिनका बाजार पर कब्जा है, इसलिए बाजार के हित से अलग उसका कोई स्वतंत्र रोल नहीं रह गया है।

पूर्व प्रधान मंत्री मनमोहन सिंह ने २००५ में एक ज्ञान आयोग का गठन किया था जिसके अध्यक्ष सैम पित्रोदा थे। इस आयोग ने सुझाव दिया था कि देश के आम लोगों को स्कूलों में भाषा के रूप में अंग्रेजी अनिवार्य रूप से पढ़ायी जाए। वह एजुकेशन फार आल के नाम पर इंग्लिश फार आल था जिसे लागू करना सरकार की मजबूरी थी क्योंकि यह अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अधोषित शर्त थी। अब वह एजेन्डा काफी कुछ पूरा किया जा चुका है इसीलिए विगत दस-पंद्रह वर्षों में पल बढ़ कर बड़ी हुई पीढ़ी के लिए दिनों, फलों, सब्जियों, पशु- पक्षियों, रिशतों आदि के नाम अबोधगम्य और कठिन हो चुके हैं। अब रविवार, सोमवार की जगह संडे, मंडे, विश्वविद्यालय की जगह यूनिवर्सिटी, माता पिता की जगह माँ, डैड, लाल-पीले की जगह रेड- एलो, केले - सेब की जगह बनाना -एपिल ही बच्चे जानते हैं। उल्लेखनीय है कि हमारे शब्द हमारी सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा होते हैं और जब कोई शब्द हमारे जीवन से गायब होता है तो उसी के साथ हमारी संस्कृति का एक हिस्सा भी विलुप्त हो जाता है। आज इलेक्ट्रॉनिक और प्रिंट मीडिया दोनों ने अपने प्रसारणों और प्रकाशनों से यह बात पूरी तरह हमारे भीतर बैठा चुकी है कि आज भारत में युवा होने का वास्तविक प्रमाण है पश्चिम की संस्कृति और अंग्रेजी। हमारी युवा पीढ़ी की भाषा, भूषा और भोजन तीनों बदल चुका हैं। हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाएं आज नहाने धोने खाने पीने और नाचने गाने की भाषाएं हैं विचार की भाषा सिर्फ अंग्रेजी है।

बहरहाल, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की लड़ाई व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई का ही एक हिस्सा है, आर्थिक सामाजिक असमानता के खिलाफ लड़ी जाने वाली लड़ाई का ही एक हिस्सा है।

अंग्रेजी के वर्चस्व का मूल लक्ष्य है देश की दलित शोषित जनता को बराबरी के हक से वंचित करना तथा आन्दोलन की शक्ति से अपरिचित रखना। माओ-त्से-तुंग ने अपने देश में अंग्रेजी की शिक्षा बन्द कर दी थी। अपनी भाषा की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद तेंग ने वैकल्पिक विषय के रूप में अंग्रेजी को अपनाया था। चीनी भाषा, दुनिया की सबसे कठिन भाषाओं में से एक है। चीन ने आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में

आलेख

जिस उंचाई तक छलांग लगई है वह अपनी चीनी भाषा के माध्यम से। चीन का अकेला उदाहरण ऐसे लोगों का मुंह बंद करने के लिए पर्याप्त है जो कहा करते हैं कि विज्ञान, मेडिकल या प्रौद्योगिकी की शिक्षा अंग्रेजी के अलावा अन्य किसी भाषा में नहीं दी जा सकती। वैसे आज तक दुनिया का कोई भी देश दूसरे की भाषा में शिक्षा पाकर महाशक्ति नहीं बन सका है। अमेरिका, इंग्लैण्ड, जापान, फ्रांस, जर्मनी, रूस आदि सभी महाशक्तियाँ अपने विद्यार्थियों को अपनी भाषाओं में शिक्षा देती हैं।

दरअसल, आदमी चाहे जितनी भी भाषाएं सीख ले वह सोचता अपनी ही भाषा में है। आज हमारे विद्यार्थियों का आधा श्रम और समय दूसरे की भाषा को सीखने में चला जाता है क्योंकि देश के ९५ फीसदी विद्यार्थियों की मातृभाषा अंग्रेजी नहीं है। उन्हें दूसरे की भाषा में पढ़ना पड़ता है उसे अपनी भाषा में सोचना- समझना पड़ता है और फिर लिखने के लिए अंग्रेजी में ट्रांसलेट करना पड़ता है। पिछले दिनों इसी विषय पर एक गंभीर पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसका नाम है, 'भाषा नीति : द इंग्लिश मीडियम मिथ, डिशमैटलिंग बैरियर्स टु इंडियाज ग्रोथ'। संक्रान्त सानू, राजीव मल्होत्रा और कार्ल क्लेमेन्स ने पराई भाषा के माध्यम से मिलने वाली शिक्षा के परिणाम का प्रामाणिक अध्ययन किया है। लेखकों ने दुनिया के अग्रणी बीस देशों का आकलन किया है। वे अग्रणी देश अपनी-अपनी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा, शोध, शासन, कानून, विज्ञान, तकनीक और उद्योग चलाते हैं। जबकि सबसे पिछड़े

बीस देशों में से सिर्फ नेपाल और यूथोपिया दो ऐसे देश हैं जिनके यहां शासन की भाषा भी उनकी अपनी भाषाएं हैं बाकी सभी ऐसे हैं जो किसी विदेशी भाषा को अपनी शिक्षा और सत्ता की भाषा बनाए हुए हैं। इस अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी देश की बहुमुखी प्रगति यानी, संपूर्ण जनता की समान भागीदारी के लिए विदेशी भाषा का जामा उतारना अनिवार्य है।

उल्लेखनीय है कि इजराइल जैसे देश ने कुछ वर्ष पहले अपने यहां की विस्मृत पुरानी भाषा, हिब्रू को अपनी शिक्षा और शासन का माध्यम बना कर वह सब कुछ उपलब्ध किया जो दुनिया के किसी भी सर्वोत्तम विकसित देश में है। इजराइल में विज्ञान, तकनीक और शोध-कार्य हिब्रू में होता है। यही स्थिति जर्मनी, जापान, रूस, फ्रांस, चीन, कोरिया आदि सभी विकसित देशों में है।

इसके विपरीत जिन देशों में किसी विदेशी भाषा में काम होता है वहां थोड़े से लोगों को छोड़कर शेष आबादी गुलामों की तरह पिछड़ी और हीनता की ग्रंथि से ग्रसित है। आज हिन्दी और अपने देश की अन्य भाषाएं प्यार की, संवेदना की, संगीत की, साहित्य की, कला की और परस्पर संपर्क की भाषाएं हैं। यदि इन्हें रोजी रोटी की भाषा भी बना दी जाए तो सारी समस्याएं स्वतः हल हो जाएंगी। प्रेमचंद ने कहा है, राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बंधन है जो चिर काल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है और उसका शींराजा (संरचना) बिखरने नहीं देती।

सम्पर्क : EE/164/402, Sector-II, Saltlake, Kolkata-700 091, Mo.- 9433009898

सभ्यताओं का द्वंद्व और भारतीय मनीषा

ऋषिकेश राय

संस्कृति के चरित्र की विशिष्टता है निरंतर गतिशील एवं प्रवहमान रहना। बदलती परिस्थितियों एवं परिवर्तित संदर्भों के अनुसार वह अपने को अनुकूलित करती है। काल के विवर्त से अनुपयोगी धारणाओं एवं प्रत्ययों की केंचुल को छोड़कर वह मसृण और पुनर्नवा होती रहती है। बीसवीं सदी के शेषांत पर सैमुअल हटिंगटन द्वारा प्रस्तावित 'सभ्यताओं का संघर्ष' एक नया संदर्भ है जिसने विश्व भर की संस्कृतियों के समक्ष एक नई चुनौती प्रस्तुत की है।

संस्कृति को मानव व्यवहार प्रकार की सीखी हुई समग्रता के रूप में परिभाषित किया गया है। संस्कृति और सभ्यता के अवधारणागत अंतर को आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा दी गई परिभाषा से स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। आ. द्विवेदी के अनुसार, सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहजलभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत अंतर आनंद की अभिव्यक्ति। जीवन के बाह्य प्रयोजनों से जुड़ी होने के कारण सभ्यता में विस्तार होता है, संस्कृति अंतर की वस्तु होने के कारण वह घनत्व और गहराई को व्यंजित करती है। सभ्यताओं का लीलाक्षेत्र इतिहास का विस्तीर्ण प्रांगण है, जबकि संस्कृति की जड़ दार्शनिकता के अतल में है।

१९९३ ई. में 'फॉरेन अफेयर्स' पत्रिका में सैमुअल हटिंगटन का 'सभ्यताओं के संघर्ष' पर एक भविष्यदर्शी आलेख प्रकाशित हुआ था। इसमें विश्व व्यवस्था के पुनर्विन्यास के पूर्व एक वैश्विक संघर्ष की परिकल्पना है जिसमें विभाजक रेखाओं के रूप में सभ्यताओं को क्रियात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यह आलेख लगातार विवादों के क्रम में रहा है और इस पर दुनिया भर के लेखकों ने विचारपूर्वक अपनी विस्तृत टिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं।

हटिंगटन के अनुसार विश्व में अब तक हुए संघर्षों का स्वरूप सामरिक एवं आर्थिक रहा है, जिसमें राष्ट्र शामिल हुए हैं। उपनिवेश बनाने के लिए भी यूरोपीय देशों ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों पर हमले किए। किंतु भविष्य के संघर्ष राष्ट्रवाद के एक नए स्वरूप सभ्यता के आधार पर लड़े जाएंगे। कूटनीतिक संचालन हेतु सभ्यता, दर्शन और संस्कृति का महत्व आनेवाले दिनों में बढ़ता जाएगा। हटिंगटन एक अमरीकी विश्वविद्यालय में प्रशासन के अध्यापक एवं एक रणनीतिक अध्ययन संस्थान के निदेशक भी हैं।

सभ्यता संस्कृति की उदारवादी परम्परा के बरक्स यह स्थापना, इन प्रत्ययों को, नए संदर्भों के सापेक्ष परिभाषित करने की मांग करती है।

वैश्विक सभ्यताओं को चिन्हित करने में हटिंगटन ने टॉयनबी की मान्यताओं को आधार मानते हुए दुनियाभर में इक्कीस सभ्यताओं को रेखांकित किया है। इनमें से छह सभ्यताएं संख्यात्मक एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से सक्रिय मानी जा सकती हैं। विश्व व्यवस्था में वर्चस्व की वरेण्यता सूची में शीर्षस्थानीय बनने के लिए इनमें संघर्ष होना अवश्यभावी है।

पूरी पुस्तक इस संघर्ष की प्रकृति और स्वरूप को विवेचित करती है। इस संघर्ष में मुख्य पक्ष, आधुनिकता, तकनीक और जनतांत्रिक चेतना सम्पन्न पश्चिमी सभ्यता और मध्यकालीन चेतना और धार्मिकता से परिचालित इस्लामी सभ्यता होंगे। चीन की सभ्यता जिसे हर्निंगटन कनफ्यूशियाई सभ्यता कहते हैं, इस संघर्ष में इस्लामी सभ्यता की सहयोगी की भूमिका में होगी। पश्चिमी सभ्यता और इस्लामी सभ्यता के इस भावी संघर्ष की बानगी खाड़ी युद्ध, बोसनिया और वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर बम हमले के रूप में सामने आ चुकी है। ईरान द्वारा सलमान रशदी को मौत का फरमान जारी करना भी इसी द्वंद्व की पूर्वपीठिका है।

ऊपरी तौर पर देखने से भले ही यह संघर्ष और उसकी अवधारणा नई प्रतीत होती हो, इतिहास के क्षेत्र में ऐसे क्रुसेड और धर्मयुद्ध पिछले हजार वर्षों से कोई नई परिघटना नहीं हैं। भले ही हर्निंगटन ने अन्य सभ्यताओं को इस संघर्ष में एक अथवा अन्य पक्ष के सहयोगी की भूमिका में परिकल्पित किया हो, पर मौलिक स्तर पर यह संघर्ष तीन भातृ सभ्यताओं यानि 'अहले किताब' (पीपुल ऑफ द बुक) के बीच का संघर्ष है। ये तीन भातृ सभ्यताएं हैं ईसाई, यहूदी और इस्लामी सभ्यताएं। संघर्ष का पहला दौर ईसाई मत के प्रवर्तन से यहूदियों और ईसाईयों के बीच शुरू हुआ। इसकी परिणति ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाने से हुई। इसके बाद यूरोप में शताब्दियों तक यहूदी विरोध (एंटी सेमेटिज्म) कई रूपों में चलता रहा। यहूदियों के इस प्रदीर्घ उत्पीड़न का एक उपफल था, अतिशिक्षित एवं बौद्धिक दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों का अमरीका में उत्प्रवास। इसके परिणाम में अमरीकी समाज में एक वैज्ञानिक, बुद्धिवादी और दार्शनिक पुनर्जागरण संभव हुआ। इस संघर्ष की स्मृति यूरोपीय समाज में बनी रही है। पोप को इस्टर और क्रिसमस व्याख्यानों में इस द्वंद्व के शमन के लिए प्रयास करते हुए देखा जा सकता है। नाजी, जर्मनी एवं जारशाही रुस में यहूदियों के उत्पीड़न को भी इसी पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। इस संघर्ष का दूसरा चरण छठीं शताब्दी में आरम्भ होता है जब इस्लाम का उदय एक संगठित धर्म के रूप में होता है। १०१५ ई. में क्लेयरमांट की धर्मसभा में तत्कालीन पोप अर्बन द्वितीय ने ईसाईयों से ईसा मसीह की पवित्र भूमि को मुसलमानों के कब्जे से मुक्त कराने का आह्वान किया था। इसके बाद दो सौ वर्षों

में नौ धर्मयुद्ध लड़े गए, जिन्होंने अरब, एशिया और यूरोप की भूमि को रक्त रंजित कर दिया। इस्लाम एक नवप्रवर्तित धर्म था, जिसमें स्वाभाविक रूप से उत्साह की मात्रा अधिक थी। प्रसारवादी अभियानों के तहत उसकी राज्यसीमा स्पेन तक पहुँच गई। १४५३ ई. में बाइजेंटियम साम्राज्य के पतन के बाद धार्मिक उन्माद से आक्रांत ईसाई दार्शनिकों एवं कलाकारों द्वारा बड़ी संख्या में पलायन हुआ। ये बौद्धिकजन इटली तथा अन्य यूरोपीय देशों में आकर बसते गए। यूरोपीय नवजागरण में इस वर्ग की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी। साहित्य, दर्शन और विज्ञान में ग्रीक एवं रोमन विषयवस्तु के पुनर्निवेश ने यूरोपीय मानस को मध्यकालीन जड़ता से मुक्त कर एक नई संचेतना की रोशनी से भर दिया। कहा जाता है कि इतिहास अपनी चक्रीय गति में स्वयं को दोहराता है। कई बार यह विडम्बनाओं के रूप में होता है, जिसके गर्भ में कई संभावनाएं भी छिपी होती हैं। यूरोपीय एवं अमरीकी पुनर्जागरण में एक अद्भुत समानांतरता है। ये दोनों शरणार्थियों के उद्यम एवं चिंतनशीलता के परिणाम हैं।

संघर्ष के तीसरे दौर में अमरीकी-यूरोपीय सरकार को यह भान हो गया था कि एक साथ दो भातृ सभ्यताओं यानि इस्लाम और यहूदी से एकसाथ लड़ना संभव नहीं है। इस्लामी-यहूदी संघर्ष में मध्यस्थ की भूमिका निभाना ही अधिक रणनीतिक और व्यावहारिक कदम होगा।

वैश्विक साम्राज्यवादी नेतृत्व ने १९४८ ई. में इजराएल के रूप में एक यहूदी राष्ट्र की स्थापना के द्वारा इस मंसूबे को पूरा करने की दिशा में कदम बढ़ा दिया। भारत में भी औपनिवेशिकता ने धर्म आधारित राजनीति को बढ़ावा देकर देश के बँटवारे में सफलता पाई। इसके बाद विश्व व्यवस्था के चौधरियों की यह योजना रही कि विश्व में शक्ति के अधिक केन्द्र न उभरने पाएं। इसके लिए उन्होंने क्षेत्रीय एवं मजहबी संघर्षों को बढ़ावा दिया। इस कठोर शक्ति विभाजन के साथ पश्चिमी शक्तियों ने जिनका नेतृत्व अमेरिका के हाथों में था, ने अपने लिए शांति व्यवस्थापक की भूमिका सुरक्षित कर ली। ईसाई पश्चिम ने प्रत्यक्ष संघर्ष से अपनी भूमिका पृथक् कर ली। यहूदी, इजराएल और मुस्लिम अरब के संघर्ष में महाशक्तियों विशेषतया अमेरिका की भूमिका मध्यस्थ की थी। पिछली सदी के अंत में आयोजित मैड्रिड शांति सम्मेलन इसकी एक मिसाल

आलेख

बनकर उभरा। अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ने मिलकर इसका आयोजन किया था। इसमें मुख्य भूमिका जार्ज बुश और उनके सेक्रेटरी ऑफ स्टेट रहे जेम्स बेकर की थी। सोवियत संघ उस समय तक विखंडन की प्रक्रिया का शिकार होकर विघटन की ओर बढ़ रहा था। उसकी अंतर्राष्ट्रीय हैसियत पहले जैसी नहीं रह गई थी। अमरीका को एक 'ईमानदार मध्यस्थ' मानकर उसकी पहल पर यह शांति वार्ता रखी गई थी। पाश्चिमी एशिया में अमेरिकी नीति की व्याख्या, कैनेडी से लेकर रीगन काल तक रूसी राजदूत रहे अनातोली दब्रिनिन ने अपनी संस्मरणात्मक आत्मकथा 'इन कान्फीडेंस' (१९९५) में की है। उन्होंने लिखा है इस तरह अमरीकी कूटनीति का एक महत्वपूर्ण पहलू था अरब-इज़राइली द्वंद्वतात्मक तनाव को उद्दीप्त किए रखना और इसे इस ढंग से करना कि दोनों पक्ष अमरीका पर निर्भर हो जाएं और सोवियत संघ शांति प्रक्रिया में अप्रासंगिक हो जाए।

वास्तव में यह हेगेल के स्वप्न एवं इतिहास दर्शन के फलीभूत होने का चाक्षुष प्रमाण था। यहूदी और इस्लामी सभ्यताएं परस्पर कट्टर शत्रु की भूमिका में थीं एवं उनकी भातृ सभ्यता यानि इसाई पश्चिम दोनों के बीच शांति व्यवस्थापक के रूप में शांति एवं स्थिरता का दर्शन बधार रहा था। रूस की छवि एक वैश्विक शक्ति ध्रुव के रूप में क्षीण हो रही थी। वह भी आर्थोडोक्स ग्रीक चर्च के उभार के कारण इसाई शक्ति वृत्त में समाहित हो रहा था।

अंतर्राष्ट्रीय शक्ति प्रभुत्व एवं वर्चस्व स्थापन की इस परियोजना के मूल सूत्रधार गोरे इसाई पुरुष हैं। पश्चिम की उदार लोकतांत्रिक व्यवस्था की सार्वभौमिक वैश्विक स्वीकृति ने 'व्हाइट क्रिश्चियन मेल' में पश्चिम के प्रभुत्व की सर्वकालिकता के प्रति आश्वस्ति की भावना पैदा की है। उनकी दृष्टि में यह उदार प्रजातांत्रिक व्यवस्था मानवीय विकास की चरम अवस्था है। इसके साकार होने के साथ इतिहास अपने गंतव्य तक पहुँच चुका है। 'एंड ऑफ हिस्ट्री' की विचारधारा में फुकोयामा इसी परिघटना का साक्ष्य देते हैं।

किंतु पश्चिम की इस आत्मसंतुष्टि में, इस्लाम की आक्रामकता और आधुनिकता के मूल्यों एवं उसकी उपलब्धियों का उग्र नकार एक खलल पैदा कर रहा है। हटिंगटन की इस पुस्तक में इसी परिदृश्य की चिंता और उत्कंठा अभिव्यक्त हुई है। पश्चिम

के सांस्कृतिक विजय अभियान एवं उसकी राह में आनेवाले व्यवधानों की दुश्मिताओं के निराकरण की दिशाओं के संधान का उपक्रम है यह पुस्तक।

प्रवादरूप में कहा जाता है कि इतिहास का प्रतिशोध अत्यंत भयंकर होता है। पश्चिम की वर्चस्वकामिता ने तुर्की जैसे उदारपंथी इस्लामी देश में भी तीव्र प्रतिक्रिया को जन्म दिया है। यूरोपीय साझे बाजार और यूरोपीय संघ में तुर्की के प्रवेश को बाधित करने के कारण तुर्क लोगों में यह भावना घर करती गई कि यूरोपीय संघ गोरे इसाईयों का संगठन है जिसमें इस्लामी एवं अर्द्धएशियाई तुर्की के लिए कोई जगह नहीं। नोबेल पुरस्कार विजेता तुर्क लेखक ओरहान पामुक के साहित्य में तुर्क अस्मिता की तलाश का परिप्रेक्ष्य भी इस घटना से सम्बद्ध है। अमरीकी समाज में भी वर्ण और मजहब पर आधारित विभेदों की घटनाओं में इजाफा हुआ है। १९९५-९६ में 'नेशन ऑफ इस्लाम' संगठन की स्थापना के बाद इस प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई है। इस संगठन द्वारा उस अवधि में आयोजित 'मिलियन मैन मार्च' पर अमरीका के प्रतिष्ठित दैनिक 'द न्यूयार्क टाइम्स' ने टिप्पणी की थी 'द रेड मिनेस इज ओवर इस्लाम इज हियर' (साम्यवाद का खात्मा, नया खतरा इस्लाम से है)

सैमुएल हटिंगटन की चिंताओं का आधार इसी सोच में है। पुस्तक में जहाँ विवेच्य विषय की सटीक व्यंजना है, वहीं उपयुक्त साक्ष्यों से उनका समर्थन भी है। रीतिशास्त्रीय परिपाटी के अनुसार लक्षण और उदाहरणों का सुंदर संयोजन। यह किताब वर्ण्य विषय पर सोचने का एक परिप्रेक्ष्य पैदा करती है और इससे सम्बन्धित उत्तेजना को शमित करने की माँग भी करती है।

विश्वभर का सामंती काल का इतिहास आपसी संघर्षों और आंतरिक युद्धों का रह है। पुस्तक सभ्यताओं के बीच वर्चस्व स्थापन के लिए चलने वाले युद्ध संघर्षों के चरम रूप की परिकल्पना करता है। सभ्यताओं के आधुनिक स्वरूपों ने अहंकार को मूर्तिमान किया है, जबकि इसके विपरीत संस्कृतियाँ सहिष्णु और समावेशी चरित्र प्रदर्शित करती हैं।

उपर्युक्त वैश्विक परिवेश के मुकाबले भारतीय संदर्भ की चर्चा करें तो भारतीय अथवा हिंदू सभ्यता के स्थान पर भारतीय

आलेख

संस्कृति की धारा को अधिक सक्रिय और जीवंत रूप में हम उपलब्ध कर पाते हैं। भारत की संस्कृति की आदि धारा आर्य संस्कृति की है जिसमें विभिन्न आर्येतर तत्व भी समाहित हुए हैं। इसमें जैन एवं बौद्ध सुधार के तत्वों का आत्मसातीकरण भी हुआ है। भारत से बाहर पैदा होनेवाले धर्मों में इसाईयत और इस्लाम के तत्व भी इसमें समाविष्ट हुए हैं। सिख पंथ को भी आंतरिक सुधार आंदोलन माना गया है जिसे रामधारी सिंह दिनकर इस्लाम के प्रभाव की हिंदू प्रतिक्रिया कहते हैं। भारतीय संस्कृति की विशाल धारा महामानव समुदायों द्वारा निर्मित एक सिन्धु है। बाह्य प्रभावों की स्वीकृति और आंतरिक सुधारों के समंजन की क्षमता भारतीय संस्कृति की ग्रहणशीलता की परिचायक है। जीवंतता और खुलेपन की प्रवृत्ति इसकी अनन्य विशिष्टता है। भारतीय संस्कृति के आदिधर्म को सनातन की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस धार्मिक परम्परा ने कभी भी सत्य और परमसत्ता के एकल स्वरूप को स्वीकार नहीं किया। बहुलतावादी चिंतन की आंतरिकता में न तो किसी एक पुस्तक मात्र को अंतिम सत्य और न किसी पैगम्बर विशेष को सत्य का आखिरी प्रवक्ता स्वीकार किया गया। हिन्दू मानस ने सभी प्रकार की मान्यताओं और विचार सरणियों को समोने और स्पेस देने में कभी भी द्विधाबोध का अनुभव नहीं किया। हिंदू धर्म अपनी सैद्धांतिक निष्पत्तियों में आस्तिक-नास्तिक, निर्गुण-सगुण, वैष्णव-शैव, बौद्ध-जैन सभी परम्पराओं को स्थान देता है। हिंदू मानस में परस्पर विरोधी मान्यताएं भी सहअस्तित्व की स्थिति में रह सकती हैं। आ. शुक्ल के शब्दों में इसे 'विरुद्धों का सामंजस्य' कहा जा सकता है। धर्म की परिभाषा में धारण क्षमता को महत्व दिया गया है। विरुद्धों को धारण करने वाला धर्म जो उन्हें अद्वैत बना देता है, निश्चित रूप से विलक्षण और अद्भुत समावेशी है।

रामविलास शर्मा ने रामायण और महाभारत को भारतीय संस्कृति का महाकाव्यीय आधार स्वीकारा है। दोनों ग्रंथ अपने प्रतिपाद्य में परस्पर विलोम आदर्शों को संयोजित करते हैं। जहाँ रामायण आदर्शों के उदात्त चित्रण का महाकाव्य है तो दूसरी ओर महाभारत में कठोर यथार्थपरकता विन्यस्त हुई है। सामान्य जनजीवन में दोनों की लोकप्रियता समान है। दर्शन के क्षेत्र में भी जहाँ चिंतन की उदात्त भावभूमि पर जहाँ अद्वैत की स्थापना

है वहीं दूसरी ओर व्यवहारिक जीवन में जातियों की बहुलता गणितीय राशियों की तरह विद्यमान हैं। एक ओर जहाँ भेदों का समाहार है तो दूसरी तरफ नाना नाम रूप एवं राशियों में सूक्ष्मतर भेदोपभेदों की व्यवस्था। विरुद्धों के सामंजस्य की यह प्रक्रिया भारतीय संस्कृति की निरंतर, प्रवहमानता और उत्तर जीविता की क्षमता की संचालिका शक्ति है। 'तराना-ए-हिंद' में इकबाल ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

औपनिवेशिक युग में राजा राममोहन राय से लेकर गांधी तक भारतीय एवं पश्चिमी संस्कृति की अंतःक्रिया पुनर्जागरण, समन्वय, अवरोध और सामंजस्य की श्रृंखला में चलती रही है। गांधी में भी प्रयत्न के विभिन्न स्तरों पर यह सामंजस्य की प्रक्रिया चलती रही है। यह प्रक्रिया पश्चिमी दृष्टि वाले नारे 'अनेकता में एकता' में चरितार्थ नहीं हो पाती। भारतीय संस्कृति अपने जटिल संदर्भों में विरुद्धों को सम्पूर्ण रूप में देखती हुई वैविध्य की समरसता का आख्यान रचती है।

१८वीं-१९वीं सदी के मुकाबले सांस्कृतिक द्वंद्व का स्वरूप पूर्णतः परिवर्तित हो चुका है। तब टकराहट का संदर्भ भारतीय और पश्चिमी संस्कृति के मध्यक था, जो अब भारतीय जीवन पद्धति और अमरीकी सभ्यता के बीच है। सभ्यता और संस्कृति की इस टकराहट की चर्चा रामस्व रूप चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' (१९८६) के समापन अंश में किया है। वे लिखते हैं, 'संस्कृतियों के संघर्ष में जिसका नवीनतम उदाहरण उन्नीसवीं सदी का पुनर्जागरण है, उसने विरुद्धों का सामंजस्य किया। वहाँ संघर्ष चैतन्य शक्ति से था। अब इस नई टकराहट में पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता सामने है जो अपनी प्रकृति में जड़ है। शायद यहाँ बचाव की मुद्रा में समन्वय साधना की शैली अधिक फलप्रद होगी।'

वर्तमान पश्चिमी सभ्यता अपने चरित्र में पूर्णतः यांत्रिक है, जिसने स्वयं पश्चिमी संस्कृति के परम्परागत प्रतिमानों को ध्वस्त कर सर्वथा नई जीवन शैली प्रस्तावित की है। सभ्यतागत स्तर पर समन्वय साधना द्वारा इसका प्रत्युत्तर संभव है, परंतु संस्कृति के संदर्भ में विरुद्धों के सामंजस्य की नीति ही उचित है। इक्कीसवीं सदी के सांस्कृतिक मानचित्र का वैश्विक संदर्भ बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि दोहरे स्तर पर चलनेवाले इस संघर्ष को हम कैसे नियोजित कर पाते हैं।

आलेख

भारत की सभ्यता खुली और जैन पारिभाषिकता में कहें तो अनेकान्तवादी रही है। पश्चिमी सभ्यता का विकास जिन धर्म मतों के आधार पर हुआ है वे धर्म अंदर से बंद हैं। नब्बे के दशक में काहिरा की संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या सम्मेलन में जनसंख्या नियंत्रण पर वक्त नहीं दिया जा सका क्योंकि तमाम मान-मनौवल के बावजूद वेटिकन और इस्लामी देशों के प्रतिनिधि इस पर तैयार नहीं थे। पश्चिम में वास्तविक मसीहा और ईश्वर पुत्र कौन है? इस प्रश्न पर रक्तंजित संघर्षों का लम्बा इतिहास रहा है। वैदिक धर्म की आलोचना के बावजूद भारतीय धर्म परम्परा में बुद्ध को अवतार का दर्जा मिला। किसी इतर मत को मानने के कारण भारत में किसी को सूली पर चढ़ाने या जहर देने का कोई दृष्टांत मौजूद नहीं है। 'एकं सदविप्राबहुधावदन्ति' के सिद्धांतों से अनुप्राणित आख्यान बहुलता भारतीय संस्कृति की अंतर्निहित विशिष्टता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण की उद्घोषणा है जो अन्य देवों की पूजा करते हैं उनका अराधन भी यहीं पहुँचता है।

आधुनिक काल में प्रौद्योगिकी में आई उन्नति ने पश्चिमी जीवन की गति को अचानक तेज कर दिया है। गति की तीव्रता ने संवेदना को नए सिरे से संकटापन्न किया है। इस संकट को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। इनमें एलविन टॉफलर की 'फ्यूचर शॉक' और कथाकर-चिंतक डब्लू डी वैदरेल की 'नार्थ ऑफ नाऊ' उल्लेखनीय हैं। भौतिक जीवन की निस्संरता से त्रस्त पश्चिमी मानस प्राच्य आध्यात्मिकता में शरण ले रहा है। इस परिदृश्य में भारतीय योग एवं आध्यात्म की नई दुकानदारी भी चमक रही है। भारतीयता और पश्चिम के समन्वय का यह सस्ता रूप है।

वास्तव में सभ्यता को संस्कृति पर बरीयता देते हुए उसे आचार की निर्देशिका स्वीकार करना एक अमेरिका केन्द्रिक परिघटना है, जिसने सभ्यताओं के मध्य विद्यमान विभाजक रेखाओं को निर्णायक महत्व देकर वैश्विक संघर्ष की भूमिका तैयार कर दी है। यह मूलतः एक संवेदनात्मक समस्या है जो अमरीका की संस्कृति विहीनता की उपज है। अप्रवासियों की सक्रियता ने अमरीकी इतिहास का निर्माण कर उसे एक सभ्यता का रूप अवश्व दिया है, परंतु संस्कृति की गहराई और निथरने की प्रक्रिया से वह वंचित ही रहा है। सभ्यता की इस अक्रामकता

में तकनीक की युगांतकारी छलांग और रूपांतरकारी प्रविधियों की नियामक भूमिका रही है। संस्कृति के क्षेत्र में इसने उत्तर आधुनिक सैद्धान्तिकी का पोषण एवं मंडन किया है। उत्तर आधुनिकता ने तकनीक आधारित जनसंचार का सहारा लेकर उच्च एवं निम्न कलाओं के बीच के व्यवधान को पाटने का प्रयास किया है। पुनर्जागरण और ज्ञानोदय से अभिप्रेरित आधुनिकता उच्च कलाओं को ही प्रश्रय देती रही है। उच्च एवं निम्न कलाओं का यह द्वैत फ्रांसीसी जनक्रांति की प्रेरणा से प्रवर्तित है। वड्सवर्थ और सैमुएल टेलर कॉलरिज के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'लिरिकल बैलेड्स' (१७९८) में इस प्रवृत्ति के उत्स को रेखांकित किया जा सकता है।

मूल प्रश्न उच्च अथवा निम्न, शिष्ट या लोक कला का नहीं है। इस अलगाव से अधिक महत्वपूर्ण है, मानवीय बनाम यंत्र समर्थित कलाओं की प्रकृति का सवाल। आधुनिक संचार साधनों का मूलाधार हैं तकनीक और यंत्र जो अपनी प्रकृति में मानवीय कलाओं की विरोधी हैं। इस परिदृश्य में द्वैत का असली स्वरूप शिष्ट बनाम लोककला न होकर कला बनाम जनसंचार या एक भिन्न स्तर पर सभ्यता बनाम संस्कृति का है। कलाओं में मनुष्य प्रतिभागिता करता है, संचार साधन उसे तमाशबीन बनाकर अकेलों की भीड़ का हिस्सा बना देता है। इनकी भूमिकाओं की व्यंजना करते हुए रामस्व रूप चतुर्वेदी ने संचार माध्यमों को 'एंटी बायोटिक' और कलाओं को 'मल्टी विटामिन' की संज्ञा दी है। सभ्यता बनाम संस्कृति का यह द्वंद्व बीसवीं सदी की उपज है जो इक्कीसवीं सदी में नए आयाम ग्रहण कर रहा है।

पश्चिम अपनी सभ्यता के अहंकार में उन्मत्त है, जबकि भारत अपनी संस्कृति में विनयशील। पश्चिमी समाजों में वैयक्ति एवं सामुदायिक दोनों स्तरों पर एकाकीपन की समस्या विकराल अनुपात ग्रहण कर चुकी है। औद्योगिक एवं उत्तर औद्योगिक चिंतन ने ईश्वर से जुड़ी आस्था का खात्मा कर विचारों में नास्तिकता को प्रतिष्ठित कर दिया है। जीवन एवं चिंतन में व्याप्त इस अनास्था ने मानवीय जीवन में हिंसा, यौन अतिचार और नशाखोरी जैसे विकल्पों को पैदा किया है। ये विकृतियाँ भौतिकवादी एवं सुखान्वेषी सभ्यतागत दृष्टि के उत्पाद हैं। भारतीय संस्कृति में मनुष्य अभी भी समाज स्थित है और उसी में अपने अस्तित्व

आलेख

और एकांत की खोज करता है। भारतीय संस्कृति उपकरण निर्भर न होने के कारण मनुष्य को आत्म साक्षात्कार का अवसर देती है। इसकी चरम परिणति मोक्ष में साकार होती है जिसमें व्यक्ति निज पर के बंधन से मुक्ति पा जाता है। पश्चिम का जीवन सफलता की ओर उन्मुखता का प्रदर्शन करता है, जबकि भारतीय जीवन सार्थकता को ही श्रेय मानता है। हटिंग्टन की इस प्रस्तावना के बाद उत्तरवर्ती चिंतन के रूप में कई अन्य विचारकों ने भी संस्कृति के महत्व को रेखांकित किया है। इस संदर्भ में थॉमस सोवेल की पुस्तक 'कॉन्वेश स्ट्रस एंड कल्चर्स' (बेसिक बुक, १९९८) की चर्चा की जा सकती है जो ट्रायलोजी की अंतिम कड़ी है। इस पुस्तक में सामरिक संघर्ष में विजयी पक्षों के सांस्कृतिक प्रभावों का गंभीर विश्लेषण किया गया है। लेखक की मान्यता है कि आर्थिक वैषम्य का कारण सांस्कृतिक विपर्यय है। उपभोक्ता समाज के समकालीन दौर में संस्कृति ही वह एकमात्र प्रत्यय है, जो हमारी आत्म-पहचान का सूत्र बन सकती है।

औपनिवेशिकता एवं उसके बाद अमरीकी सभ्यता के प्रभावों के कारण भारतीय चिंत एवं मानस प्रभावित हुआ है। यह प्रभाव उच्च एवं मध्यवर्ग के शहरी तबकों पर अधिक है। सांस्कृतिक सामंजस्य के प्रयास पश्चिमी चिंतन एवं साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करते रहे हैं। १९२२ में लिखी विश्व विश्रुतकवि एवं नाटककार आलोचक टी.एस. इलियट की कविता 'वेस्टलैंड' पश्चिम एवं भारत के सांस्कृतिक तत्त्वों का संश्लेषण कर पश्चिम की रूग्ण एवं अनुर्वर संस्कृति का निदान खोजती है। कविता की निष्कर्षात्मिक परिणति बुद्ध की करूणा और प्रजापिता द्वारा उपनिषदों में निहित शांतिपाठ में होती है। यह कविता सांकेतिक रूप में भारत तथा पश्चिम के सामंजस्य की खोज एक नवीन मनोभूमिका पर करती है। उल्लेखनीय है कि इस कविता का

सम्पादन करने वाले और अंग्रेजी साहित्य में आधुनिक संचेतना की दिग्दर्शक त्रयी के महत्वपूर्ण प्रतिनिधि एजरापाउंड 'मार्डन रिव्यू' में उसी समय कबीर के पदों का अनुवाद कर रहे थे। गुरुदेव रवीन्द्रपनाथ ने भी उसी समय कबीर के सौ पदों का अनुवाद प्रकाशित करवाया था।

मेक्सिकन कवि, चिंतक एवं भारत में वहाँ के राजदूत आक्टोवियो पॉज ने पश्चिम की सांस्कृतिक संत्रस्तता का समाधान भारतीय परम्परागत चिंतन में खोजने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने काव्य एवं चिंतन दोनों क्षेत्रों में भारतीय पुराण कथाओं और मिथकीय प्रतीकों और बिम्बों का उदारता से प्रयोग किया है। स्पेनिश में लिखे गए उनके ग्रंथों 'कन्जन्क्शंस एंड डिसकन्जन्क्शंस' तथा 'द मंकी ग्रैमेरियन' में उन्होंने भारत के अतीत एवं वर्तमान को संयोजित किया है। वे भारतीय चिंतन के आकर्षण में आजीवन बंधे रहे। बौद्ध धर्म और चीनी संस्कृति से सम्बद्ध अवधारणाओं का भी उनके काव्यांशों में उपयोग किया गया है। मनुष्यता का इतिहास लिखने के क्रम में प्राच्य संस्कृति के कई पक्षों को शामिल करते हुए उनका लक्ष्य भारत एवं पश्चिम में सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित करना है। भारतीय सांस्कृतिक विचार परिधि में विद्यमान ऐहिक और आत्मिक के संतुलित मिश्रण से वे काफी प्रभावित थे। यह तथ्य उनकी साहित्यिक रचना और दार्शनिक विवेचना का आधार रहा है। उनकी कविता इन दो छोरों के बीच बहते हुए काल प्रवाह में मानवीय संघर्ष के आख्यान का निरूपण करती है।

आज के इस संकुल समय में सामंजस्य की विराट चेष्टा का मार्ग भारत के सांस्कृतिक चिंतन में सन्निहित है। पश्चिम के पुनराविष्कार की योजना भारत के रास्ते ही सफल हो सकती है। इसमें इतिहास की आकांक्षा के पूर्ण होने की संभाव्यता भी निहित है।

सम्पर्क : ऋषिकेश राय, उपनिदेशक, राजभाषा, टी बोर्ड इण्डिया, १४, ब्रेबोर्न रोड,
कोलकाता-७०० ००१, मो. : ९९०३७ ००५४२

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं असम का भक्ति आंदोलन

डॉ. हरेराम पाठक

किसी भी राष्ट्र का प्राण है- उसकी संस्कृति। सांस्कृतिक उपादानों से आवेष्टित राष्ट्र ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है। ये सांस्कृतिक उपादान क्या है। सनातनता अध्यात्मभावना, त्याग एवं तपस्या की भावना, धर्म पालन, कर्म में आस्था, गत्यात्मकता, समानता, अहिंसा, भाषा साहित्य एवं नृत्य संगीत के द्वारा चित्त वृत्तियों का परिमार्जन। इन सांस्कृतिक उपादानों का आभास मनुष्य के बाह्य एवं आंतरिक दोनों प्रकार की क्रियाओं में देखा जा सकता है। मनुष्य की ये सारी क्रियाएँ जब राष्ट्रहित से जुड़कर उसके निरंतर विकास के लिए सन्ध होती हैं तो उसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के संज्ञान से अभिहित किया जाता है।

संस्कृति को परिभाषित करते हुए डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है- ‘‘संस्कृति का अर्थ है- संस्कार संपन्न जीवन। ये संस्कार मन, कर्म और वचन के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। ... विश्व के नियमों की संज्ञा धर्म है। ये धर्म मानवीय जीवन में नियम और मर्यादा के रूप में प्रकट होते हैं, जिनके समुचित पालन से व्यक्ति और समूह दोनों को सुख मिलता है और दोनों का कल्याण होता है। इस प्रकार धर्म और जीवन संस्कृति शब्द के पर्याय कहे जा सकते हैं। मानव अपने मन से, कर्म से और शब्दसे जो कुछ अब तक रच सका है वह सब उसकी संस्कृति है।’’

संस्कृति की यह व्यापक परिभाषा हमें धर्म तथा धर्म के व्यापक स्वरूप एवं जीवन के साथ उसके व्यापक तथा अकाट्य संबंध पर बार-बार चिंतन-मंथन करने के लिए आमंत्रित करती है।

यद्यपि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा उन्नीसवीं शताब्दी की देन है, एवं अंग्रेजी उपनिवेशवाद से टक्कर लेने के लिए इस अवधारणा का विकास बंकिम चंद चटर्जी (१८३८-१८९४) रचित दुर्गेशनन्दिनी (१८६५) तथा आनंदमठ (१८८२) उपन्यासों में देखा जा सकता है तथापि इस अवधारणा का मूल श्रोत भारत का भक्ति आंदोलन ही रहा है। बंकिम चटर्जी द्वारा दिया गया ‘वंदे मातरम’ का नारा मात्र एक राजनीतिक नारा नहीं है बल्कि एक सांस्कृतिक नारा है जिसमें हिमालय से लेकर हिन्द महासागर तक फैले विस्तृत भारत-भूमि की वंदना की गयी है

हिमालयात् समारम्य यावत् इन्दु सरोवरम्। तदेव निर्मितं देशं हिन्दुस्थान प्रचक्षते॥

(बार्हस्पत्य शास्त्र, चौथी सदी)

अनुशीलन

राजनीतिक राष्ट्रवाद स्वार्थगत लोलुपता का शिकार है। अपने पथ से भटक सकती है परन्तु सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आत्मचिंतन का वह रूप है जो संस्कृति की भाव भूमि पर अंकुरित होकर सहकारिता, समानता एवं 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का चतुर्दिक सौरभ फैलाकर हममें एकत्व बोध का भाव भरता है।

इस पत्र का मूल उद्देश्य है असम के भक्ति आंदोलन में व्याप्त सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के तत्वों का अभिज्ञान करना। अतः असम के भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि के रूप में भारतीय भक्ति आंदोलन पर एक सरसरी निगाह डाल लेना परम आवश्यक है। असम का भक्ति आंदोलन दक्षिण एवं उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन से पूर्णतः अनुप्राणित है। इस मत की पुष्टि के लिए यह उदाहरण प्रयाप्त होगा कि संत कबीर स्वामी रामानंद की भक्ति पद्धति से प्रभावित थे एवं महापुरुष शंकरदेव कबीर की भक्ति पद्धति से। इस तथ्य को यहाँ थोड़ा और वितार देना शायद विषयान्तर नहीं होगा क्योंकि इन उदाहरणों के बीच से ही हमें सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के उत्सों की तलाश करनी है। अस्तु, सन् १२९९ में प्रयाग में जन्मे स्वामी रामानन्द ने जब दक्षिण भारत की यात्रा की तो वहाँ प्रचलित राम भक्ति से वे काफी प्रभावित हुए और उस भक्ति पद्धति को उन्होंने उत्तर भारत में लाकर प्रचारित किया। कहा भी गया है—

भक्ति द्रविडी उपजी लाये रामानंद।

परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नव खण्ड॥

स्वामी रामानंद द्वारा दक्षिण से उत्तर भारत की ओर लायी गई भक्ति पद्धति को कबीरदास ने सप्त द्वीप एवं नव खंडों (नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत रम्यक, कुरु, हिरण्यक, भद्राश्व और केतुमाल) तक प्रसादित किया। निश्चय ही यह भक्ति जातिगत एवं धर्म के संकीर्ण दायरे में सिमटकर रहनेवाली भक्ति नहीं थी। यदि जाति धर्म एवं सम्प्रदाय के संकीर्ण दायरे में यह भक्ति पद्धति आबद्ध होती तो कबीर के द्वारा व्यापक रूप से इसका प्रचार-प्रसार कभी नहीं हो पाता। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद सारी संकीर्ण भावनाओं से ऊपर होता है। उदारता, सहिष्णुता एवं समन्वयवाद उसकी मुख्य धुरी होती है। स्वयं रामानंद प्राचीनता एवं नवीनता के अद्भुत मिसाल थे। “शास्त्रों का भाष्य करते समय वे वर्णाश्रम के प्रतिबंधों का खंडन नहीं कर

सकते थे। किन्तु, उनके लिए यह भी कठिन था कि किसी भक्त का निरादर वे सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म ब्राह्मण अथवा द्विज के वंश में नहीं हुआ है। विचार से वे कठोर वर्णाश्रमी, किन्तु, आचारों से दयालु संत थे। इसीलिए जब स्वामी रामानंद स्वर्गीय हुए, तो उनके अनुयायी दो दलों में बँट गये। एक धारा उन भक्तों की बनी जो विशिष्टाद्वैत को मानते थे एवं जिनका विश्वास वेद और वर्णाश्रम धर्म से भी भरपूर था। गोस्वामी तुलसीदास जी और नाभादास जी इसी धारा के भक्त-कवि हैं। इसके विपरीत, दूसरी धारा के भक्त वे हुए जो वेद और वर्णाश्रम के विरुद्ध थे, जिनका विश्वास विशिष्टाद्वैत में भी नहीं था, किन्तु, जो रामानंद के भक्ति धर्म को आदर्श समझते थे।”

स्वामी रामानंद के शिष्य जो चाहे वेद एवं वर्णाश्रम में विश्वास रखने वाले हों अथवा वे जो नहीं रखने वाले हो, दोनों ही भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रति प्रतिबद्ध रहे हैं। डॉ. ताराचंद, अली सरदार जाफरी जैसे प्रभृति इतिहासकारों ने कबीर के एक्श्वरवादी धारणा पर इस्लाम धर्म का प्रभाव माना है। पर यह धारणा नितान्त भ्रामक है, क्योंकि औपनिषदिक एक्श्वरवाद की अवधारणा हमारे यहाँ पहले से ही विकसित रही है और कबीरदास औपनिषदिक एक्श्वरवाद की अवधारणा से पूर्णतः परिचित थे। यथा, मुंडकोपनिषद् के प्रथम अध्याय का छठा श्लोक है

यतदद्रेश्यमग्राह्यं गोत्रमवर्णम चक्षुः

श्रोतं तदपाणिपादम।

नित्यं विभुं सर्वगतं ससुक्ष्मतदव्ययं यद् भूत

योनिं परिश्रयन्ति धीराः॥

अर्थात् निराकार ब्रह्म जानने में न आनेवाला (अद्रेश्यम), पकड़ में न आनेवाला (अग्राह्यम), गोत्र आदि से रहित (अगोत्रम), रंग और आकृति से रहित (अवर्णम), नेत्र कान आदिज्ञानेन्द्रियों से रहित (अचक्षु क्षोत्रम), हाथ पैर से रहित (अपाणिपादम), नित्य सर्वव्यापी (विभुम), सब जगह फैला हुआ (सर्वगतम), अत्यंत सूक्ष्म अविनाशी (अव्ययम) समस्म प्राणियों में परम कारण कोज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।

कबीरदास ने अपने साखियों एवं पदों में परम ब्रह्म के उपर्युक्त औपनिषदिक स्वरूप की चर्चा बार-बार की है और इसी स्वरूप की चर्चा वरगीतों में शंकरदेव भी करते हैं फिर

अनुशीलन

कबीरदास के ऐकेश्वरवाद संबंधी मत पर इस्लामी प्रभाव आरोपित करना बिल्कुल अनर्गल एवं आपत्तिजनक है। कबीर ही क्यों सगुण ब्रह्म के उपासक कहे जाने वाले तुलसीदास भी ब्रह्म की औपनिषदिक अवधारणा पर अपनी सहमति व्यक्त करते हुए लिखते हैं--

**बिनु पग चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥**

तो क्या तुलसीदास की भक्ति भावना पर इस्लाम के ऐकेश्वरवाद का प्रभाव मान लिया जाय। महापुरुष शंकर देव भी लिखते हैं

ईस सरूपे हरि सब घट बैठह, ऐचन गगन बियपि।

(अर्थात् ईश्वर घट-घट में व्याप्त है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आकाश सब जगह व्याप्त है।)

तब क्या इसीलिए शंकरदेव को भी इस्लाम धर्म से प्रभावित मान लिया जाए। वास्तव में ये सारे कुतर्क सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को कमजोर करने के लिये गढ़े गये हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी अनर्गल अवधारणाओं के रास्ते पर चलकर न तो हम भक्ति-भावना के मूल तथ्य तक पहुंच पाएंगे, न उसकी सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्ता का ही आकलन कर पायेंगे।

असम का भक्ति आंदोलन एक प्रकार से सामाजिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन भी है। यद्यपि कबीर के व्यक्तित्व से शंकरदेव बहुत दूर तक प्रभावित थे फिर भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक समन्वय के जिस उदारवादी पथ का चयन शंकरदेव ने किया था, अपने अक्खड़ स्वभाव के कारण कबीरदास उस पथ का चयन करने में किंचित पीछे छूट गये थे। अतः सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सोच शंकरदेव की भक्ति भावना अथवा यूँ कहे कि असम के भक्ति आंदोलन में मुख्य रूप से मुखरित हुई है, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

शंकरदेव ने कीर्तन घोष में ब्रह्म के निर्गुण रूप की उपासना पर बल अवश्य दिया है, किन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि दुराचारियों से पृथ्वी के भार को हल्का करने के लिए ही ब्रह्म का अवतार श्री कृष्ण के रूप में देवकी के गर्भ से हुआ था

**खण्डिबाक लागि पृथ्वीर महाभार।
दैवकीर गर्भ आसि मैला अवतार॥**

शंकरदेव की भक्ति भावना केवल आत्मोद्धार का साधन मात्र नहीं है, बल्कि उसमें जन-जन का उद्धार निहित है। उन्होंने भक्ति के जिस स्वरूप की उपासना की प्रतिष्ठा की वह उनके लिये ही मोक्ष का गवाक्ष नहीं खोलता बल्कि जन-जन को उस भक्ति पद्धति की ओर आकर्षित कर मोक्ष का द्वार दिखाता है। 'कीर्तन घोषा' का भक्ति विधान लोक मंगल, लोकधर्म एवं लोक रक्षार्थ है।

अपने वरगीतों, कीर्तनघोषा एवं अन्य रचनाओं में शंकरदेव जिस लोक धर्म, त्याग एवं अपरिग्रह की चर्चा बार-बार करते हैं वह उनके संस्कार एवं वेद शास्त्रों के गहन अध्ययन का परिणाम है। सनातन धर्म में पुरुषार्थ चतुष्टय में धन को द्वितीय पुरुषार्थ के रूप में महत्व दिया गया है। राष्ट्रीय उत्थान के लिए धन आवश्यक है, पर उससे भी आवश्यक तथ्य यह है कि धन का उचित मात्रा में वितरण एवं सदुपयोग हो। धन उत्थान मात्रा में विरतण एवं सदुपयोग हो। धन उत्थान एवं पतन दोनों का कारण होता है। यही कारण है कि उपनिषद् में वित्त को अतृप्ति का हेतु माना गया है-- **“न वितेन तर्पणीयो मनुष्यः”** अर्थात् वित्त से मनुष्य को तृप्ति नहीं होती। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय में प्रथम स्थान 'धर्म' को एवं द्वितीय स्थान अर्थ को दिया है। वह अर्थ के महत्व को रेखांकित करते हुए यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि अर्थ अथवा धन का त्याग पूर्ण उपभोग करना चाहिए। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है--

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् तेन त्येक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद धनम॥

इसी विवेकपूर्ण दृष्टि का परिणाम है कि भारत वर्ष की धरती पर राजर्षियों की परंपरा विकसित हुई जो कि राजभवनों में रहकर भी त्याग पूर्ण जीवन जीते थे। यही हमारा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है, जहाँ स्वयं राजा भी अपना सब कुछ त्यागकर राष्ट्रीय संस्कृति का त्यागमय उदाहरण बन जाता है। शंकरदेव भी जमींदार परिवार से थे। वे स्वयं 'शिरोमणि भुईयां' थे, पर उन्होंने त्यागमय जीवन जीने का संकल्प लेकर तथा संपूर्ण जीवन भक्ति साधना को समर्पित कर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पुरुत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जीवन की असरता की ओर अपने वीरगीतों में उन्होंने बार-बार ध्यान दिलाकर यह स्पष्ट करना चाहा है कि जब जीवन ही असार है तब धन संग्रह एवं हिंसा-

अनुशीलन

प्रतिहिंसा किसके लिए। इसीलिए शंकरदेव कहते हैं

**अथि र धन जन जीवन यौवन, अथि एह संसार।
पुत्र परिवार सबहि असार, करबो का हेरि सार॥**

अर्थात्, धन, जन, जीवन, यौवन पुत्र परिवार और यहाँ तक कि पूरा संसार ही जब असार है तो फिर हमें क्या देखकर जीवन के प्रति इतनी अनुरक्ति है।

त्याग के पश्चात् उदारता एवं सौहार्द्र भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण आधारशिला है। भारत का भक्ति आंदोलन उदारता का अदुत मिसाल रहा है। भक्ति मार्ग में उदारता के पहले बीज स्वामी रामानंद ने बोये थे। वे पहले आचार्य हुए, जिन्होंने मुसलमान शिष्यों को भी शिष्य माना और स्त्रियों तथा शूद्रों को भी अपने सम्प्रदाय में शामिल किया। रामानन्द के एक शिष्य कबीर और दूसरे रैदास थे। रामानन्द के ही दृष्टांत पर आगे चलकर गोसाईं बिठठलनाथ ने रसखान को दीक्षा दी, जो मुसलमान थे। इसी प्रकार बंगाल के चैतन्य महाप्रभु (१४८५-१५३३) ने भी मुसलमानों को शिष्य रूप में स्वीकार किया। असम में श्रीमंत शंकरदेव ने महापुरुषिया सम्प्रदाय चलाकर भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। शंकरदेव ने अपनी रचनाओं में स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि **‘नाही भक्तीर जाति अजाति विचार’** अर्थात् भक्ति मार्ग में जाति-अजाति का विचार नहीं है। इसीलिए शंकरदेव ने कैवर्त, स्वर्णकार, दर्जी, बनकर, धोबी, गारों मिरि, नागा, भुटिया, मुसलमान आदि सभी वर्गों के लोगों को अपनाकर उन्हें अपना शिष्यत्व प्रदान किया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की--

**किरात कछारि खाचि गारो मिरि यवन कंक गोवाल।
असम मलुक धुवाजे तुरुक कुवाच म्लेच चाण्डाल।
आनो पापी नर कृष्ण सेवकर संगत पवित्र हम।
भक्ति लभियासंसार तरिया बैकुण्ठे सुखे चल्य॥**

(भागवत)

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में शंकरदेव का अविकल्प अवदान विस्मृत नहीं किया जा सकता। मध्ययुगीन भारत वर्ष के संत एवं भक्त कवियों ने संस्कृत के पाण्डित्यपूर्ण व्यामोह का परित्याग कर लोकभाषा में अपने धर्म एवं दर्शन का प्रसार करना प्रारंभ किया। हमारा देश लोक में बसता है। गाँव उसके मूलधार हैं, ग्रामीण भाषाएं अथवा बोलियाँ ग्राम्य संस्कृति

को अभी तक जीवंत बनाये हुए हैं। अतः संपूर्ण भारतीय संस्कृति का यदि हमें अभिज्ञान करना है तो हमें प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय बोलियों को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाना ही होगा। इस तथ्य को मध्ययुगीन भारतवर्ष के संत एवं भक्त कवियों ने बखूबी पहचान लिया था। अतः सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अंतः सलीला को कश्मीर से कन्याकुमारी एवं गुजरात से असम, अरुणाचल तक प्रवाहित करने के लिए इन भक्त कवियों ने ब्रजभाषा के साथ-साथ अपनी क्षेत्रीय बोलियों का मणिकांचन संयोग स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया।

सर्व भारतीय स्तर पर अपने मत को प्रसारित करने एवं असमिया संस्कृति को भारत की अभिन्न संस्कृति के रूप में प्रचारित करने के महत् उद्देश्य से अनुप्राणित हो शंकरदेव ने ब्रजावली जैसी नूतन भाषा का प्रवर्तन किया। राष्ट्र को एकताबद्ध करने का ऐसा अनूठा प्रयास मध्ययुगीन असम में जिस प्रकार हुआ वैसा भारत के अन्य क्षेत्रों में शायद नहीं हो सका। ब्रजावली भाषा में लेखन केवल शंकरदेव एवं माधवदेव तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि उन्नीसवीं शती तक भक्त कवियों के माध्यम से पूरे असम में यह भाषा साहित्य लेखन का माध्यम बनी रही। सांस्कृतिक एवं भाषायी उदारता का ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं देखने को मिले। शंकर एवं माधव देव के पश्चात् १९ वीं शती तक भक्ति साधना के माध्यम से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का अमृतपूर्व शंखनाद करने वाले इन कवियों में गोपाल देव आता, (१५४१-१६११), रामचरण ठाकुर (१५५०-१६००), भूषण द्विज (१५८०-१६५०), दैत्यारि ठाकुर (१५९६-१६५०), श्री राम आता (१६वीं से १७ वीं शती), रामानंद द्विज (१६१५-१६९०), दीन गोपाल (१८ वीं शती), कैवल्यानंद (१७७५-१७८२), महीन्द्र द्विज (१८ वीं शती), लक्ष्मीनाथ (१९वीं शती) आदि प्रमुख हैं।

गीत-संगीत अनादि काल से हमारी राष्ट्रीय एकता के सूत्र बुनते रहे हैं। आज हम गीत-संगीत को मनोरंजन एवं कला प्रदर्शन का साधन मात्र मानने लगे हैं, पर इन गीतों की बंदिशों में रची-बसी एक सूत्रता एवं एकात्मबोध पर गहराई से चिंतन-मंथन करने का गंभीर एवं जोखिम भरा कार्य करने से हम कतराते रहे हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को एकत्व प्रदान करने में शास्त्रीय राग-रागिनियों की महत्पूर्ण भूमिका रही है तथा इन

अनुशीलन

राग-रागिनियों के सच्चे संवाहक एवं सर्व भारतीय स्तर पर उसके प्रचारक हमारे भक्त एवं संत कवि ही रहे हैं। पूर्वोत्तर भारत में इन राग-रागिनियों के व्यापक प्रयोक्ता महापुरुष शंकरदेव ही रहे हैं। भक्तिकालीन कवियों के समान महापुरुष शंकरदेव के वर गीतों में गीतात्मकता का प्राधान्य है। शंकरदेव ने वरगीतों को विभिन्न राग-रागिनियों में लयबद्ध किया है। यथा धनश्री, भीमपलासी, गौरी, आसावरी, केदार मल्हार, कल्याण, आभेरी आदि राग भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक अपने नाम से जाने जाते हैं। ये मात्र राग-रागिनियों के नामकरण मात्र नहीं हैं बल्कि भारतीय राष्ट्र को जन-जन का कंठहार बनाने का माधुर्य भरा सर्वोत्तम प्रयास है। महापुरुष शंकरदेव ने इन रागों के आधार पर वर गीतों का विभाजन कर अपनी सांस्कृतिक उदारता एवं राष्ट्रीय चेतना का ही परिचय दिया है।

असम के भक्ति आंदोलन की बात की जाय और चरित-पोथियों का उल्लेख न किया जाय तो बात अधूरी ही रह जायेगी। शंकरदेव के जीवन पर आधारित उनकी शिष्य परंपरा द्वारा लिखी गयी 'गुरु चरित' या 'वर चरित' की पोथियों तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गुत्थियों को समझने का गवाक्ष खोलती हैं एवं हमें राष्ट्रीय एकत्व बोध के उदात्त विचार से अवगत कराती हैं। दुख की बात यह है कि पौराणिक ग्रंथों की तरह ही इन चरित पोथियों को हम अपनी श्रद्धा का विषय तो बनाये हुए हैं पर उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय पहलुओं की सदा से उपेक्षा करते आये हैं। ये चरित पोथियाँ आज की अलगाववादी शक्तियों के समक्ष राष्ट्रवाद का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत कर उनकी अंध अलगाववादी नीतियों को करारा जवाब देने में पूर्णतः सक्षम हैं। गुरु चरित में वर्णित कबीर-शंकरदेव प्रसंग से हमारे बड़े-बड़े शोधकर्ता एवं भक्ति साहित्य के अध्येता भी अनभिज्ञ हैं। आज से लगभग पाँच-छह सौ साल पहले कबीर एवं शंकरदेव के परस्पर अनुराग से संबंधित कथाओं का समावेश इन गुरु चरितों में देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय राष्ट्रीय एकत्व बोध के समक्ष क्षेत्रीय सीमाएँ कोई मायने नहीं रखती थीं। अपने अनेक शिष्यों के साथ शंकरदेव का कबीर के घर जाना एवं कबीर की नातिन तोरछि से शंकरदेव

का वार्तालाप होना इस बात को प्रामाणित करता है कि शंकरदेव की सदाशयता अमाप्य थी।

शंकरदेव के प्रिय शिष्य माधवदेव के भांजा श्री रामचरण ठाकुर ने गुरु चरित लिखकर १५८ पंक्तियों में शंकरदेव-कबीर प्रसंग पर जो प्रकाश डाला है, वह गहन शोध का विषय है। उसमें लिखा है कि शंकरदेव अपने शिष्यों के साथ जब कबीर का दर्शन करने गये तब घर में कबीर की नातिन अर्थात् कमाली की पुत्री तोरछि मौजूद थी। शंकरदेव के आग्रह करने पर तोरछि ने कबीर की जीवनी संबंधित अनेक कहानियों को सुनाया। एक कथा इस प्रकार है कि एक बार कबीर की माता ने कबीर को रोटी-सब्जी खाने के लिए दिया। उसी समय एक कुत्ते ने आकर कबीर के हाथ से रोटी ले ली। कबीर की माँ जब कुत्ते को वहाँ से भगाने की कोशिश करने लगी तो उन्होंने उसे वैसा करने से मना कर दिया। कबीर कहते हैं कि कुत्ते के रूप में स्वयं ईश्वर ही आकर उनकी रोटी खा रहे हैं। इसीलिए वे कुत्ते को गले लगाते हुए कृष्ण कीर्तन कर रोने लगते हैं--

हेन देखि मातृ कुत्ता मारिबाक जाइ।

कबीर बोलंत कुत्ता नामारिबा आइ॥

कु कुर सावरी आलिंजिया गले बांधि।

कृष्णक बणाई गीत गाई कांदि कांदि॥

(गुरु चरित: ३३३६-३७)

जीवन मात्र में ईश्वर का दर्शन करना कबीर की भक्ति का मूल सिद्धान्त रहा है। गुरुचरित के उपर्युक्त पद में यही तथ्य कथात्मक प्रवाह के साथ उजागर हुआ है।

कबीर की मृत्यु के बाद उनके शव को लेकर हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो विवाद हिंदी क्षेत्र में किंवदन्ती के रूप में प्रचलित है, कुछ भिन्नता के साथ गुरु चरित में उसका भी वर्णन हुआ है। शंकरदेव ने कबीर को ईश्वर का अवतार कहकर सम्बोधित किया है- **'बोले कबीर गोसाईं ईश्वर अवतार, विराट ब्रह्मन अंशे अहिछे।'**

कबीर-शंकरदेव के प्रसंग को लेकर तथा गुरु चरित को आधार मानकर एक पुस्तक ही लिखी जा सकती है। हमारी क्षेत्रीय संकीर्णता, जो आजकल बढ़ती जा रही है, उसका करारा जवाब होगी। यहाँ इस प्रसंग का उल्लेख करने का मात्र इतना ही आशय है कि भक्त कवियों में संकीर्ण क्षेत्रीयता नहीं

अनुशीलन

बल्कि व्यापक एवं उदार राष्ट्रीयता की भावना भरी हुई थी। क्षेत्रीय रूप से अलग-अलग होते हुए भी सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय रूप से वे एक दूसरे के साथ घनिष्ठता पूर्वक जुड़े हुए थे। हमारी संस्कृति को एकत्व प्रदान करने में वेदों एवं पुराणों का अक्षुण्ण महत्व रहा है। इस सांस्कृतिक विरासत का गुणगान करते हुए महापुरुष शंकरदेव कहते हैं--

चारि वेद अष्टादश पुराणा यतेक शास्त्र
परम वेदांत भागवत।
सनक सनंद मुनि योग ज्ञान विचारिना
उज्जारिला तार सार तत्त्व॥
आगम पुराण यत वेदान्तर तात्पर्य जानि
कर भक्तिक सार।
श्रवण कीर्तन बिना आन पुण्ये नापाय
जाना इटो घोर संसार पार॥

(कीर्तन : १६७३)

शंकरदेव ने चौदहवीं शताब्दी में एक शरण नामक धर्म का प्रचार कर 'एकदेव एक सेव' के सिद्धांत वाक्य के तहत सभी जातियों एवं जनजातियों के लोगों को भक्ति की एक छतरी के

नीचे ला खड़ा किया और इस प्रकार उन्होंने पूर्वोत्तर की एक बहुत बड़ी आबादी को धर्मांतरित होने से बचा लिया। सचमुच में असम का भक्ति आंदोलन एक समेकित सांस्कृतिक आंदोलन था जिसमें राष्ट्रवाद की अंतःसलीला लगभग छह सौ वर्षों तक अविरल प्रवाहित होती रही।

संदर्भ ग्रंथ

१. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर
२. पूर्वोत्तरीय राज्यों के साहित्यकारों का हिंदी को योगदान : डॉ. हरेराम पाठक
३. समकालीन भारतीय साहित्य, नवंबर-दिसंबर २००८, पृ. १७४
४. भारतीय संस्कृति : डॉ. जयकिशन प्रसाद खंडेलवाल
५. ईशावस्योपनिषद्
६. मुण्डकोपनिषद्
७. हिंदी अनुशीलन : भारतीय हिंदी परिषद् इलाहाबाद, कबीर विशेषांक पृ. २२०
८. कीर्तन घोषा का विश्लेषणात्मक अध्ययन : डॉ. पुष्पा सिंह, शुभाशंसा- डॉ. हरेरामपाठक, पृ. ५

सम्पर्क : डिगबोई महिला महाविद्यालय,
पो. डिगबोई, जिला. तिनसुकिया-७८६१७१, मो. ९४३५१३७६२४

एकमुश्त बहुबचन है नागार्जुन की कविताएँ

पूनम सिंह

अक्खड़, फक्कड़ और घुमक्कड़ – इन तीनों वृत्तियों ने नागार्जुन के कवि व्यक्तित्व को कबीर वाली साधना दी थी इसलिए चीजों को खुली आँखों से देखने और दिखाने की जिम्मेदारी उनके कवि कर्म की पहली शर्त है।

नागार्जुन का कवि ऐकान्तिक या आत्मगत साधना नहीं करता। लोकतंत्र में गर्दन झुकाये पंक्तिबद्ध भेड़ों की लंबी कतार देखकर वह भेड़ियाधसान अविवेकी भीड़ के खिलाफ अपनी जागृत मनीषा लेकर खड़ा होता है। उसकी रचनाशीलता का पहला स्वर जनपक्षीय प्रतिबद्धता है – ‘प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ। यह प्रतिबद्धता कवि की रचना प्रक्रिया का अनिवार्य हिस्सा होकर निरन्तर अपने समय से साक्षात्कार और मुठभेड़ करती है।

नागार्जुन ने देश की स्वतंत्रता के राजनीतिक संदर्भों और उससे जुड़े मुद्दों को अपनी सर्जना में वैचारिक विमर्श के रूप में उठाया है। उनका मानना है कि भ्रष्ट राजनीति की आलोचना का अधिकार साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को है और इस अधिकार का प्रयोग उन्होंने बहुत साहस और निर्भीकतापूर्वक किया। उनका कवि सत्ता की पालकी ढोने वाला कहार कभी नहीं बना। मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह दिनकर दोनों राष्ट्रीय कवि कहलाये क्योंकि वे दोनों राजनीति को साहित्य का पूरक मानते थे इसलिए अपनी सर्जना में उन्होंने दोनों को एक साथ साधा। नागार्जुन ऐसे रचनाकार थे जो राजनीति के प्रति हमेशा विपक्ष की भूमिका में रहे।

आजाद देश की पहली वर्षगाँठ (१९४८) के स्वाधीनता दिवस पर वे लिखते हैं –

“जन्मदिन शिशु राष्ट्र का है / आज ही तुम मिल गये थे / दुश्मनों से, गुनहगारों से /
छोड़कर संघर्ष का पथ / भूलकर अंतिम विजय की घोषणाएं / भोंककर लंबा छुरा तुम
सर्वहारा जनगणों की पीठ में / लड़खड़ा कर गिर पड़े आज ही के रोज”

इन पंक्तियों में आजादी मिलने के बाद सत्तालोलुपता और अवसरवादिता का एक निर्मम और बेशरम चेहरा उजागर होता है। राजनीतिक चेतना नागार्जुन की कविता का प्राणतत्व है। स्वयं को जनप्रतिनिधि के रूप में रखकर कवि अराजक व्यवस्था की ओर तर्जनी उठाकर जिस सच का खुलासा करता है वह सत्ता की सर्वग्रासी भूख को परत दर परत खोलता है –

“मैं रूपक हूँ दबी हुई दूब का /हरा हुआ नहीं कि चरने दौड़ते ”

अनुशीलन

अभिधात्मक शैली में लिखी नागार्जुन की कविता में सीधी सरल रेखा खींचने जैसी साधना है। राजनीति और समाज के खुरदुरे यथार्थ को व्यक्त करने के लिए उस समय ऐसी ही भाषा की जरूरत थी। नागार्जुन ने हिन्दी कविता को नकली सरोकारों वाली बनावटी कविता से सर्वथा अलग करके संवादी भाषा और नया मुहावरा दिया। कबीर से लेकर निराला तक हिन्दी कविता की दुनियाँ में जो बेलौस अक्खड़पन है, उसे और वेगवान और स्फूर्त बनाने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। राजनीति, समाज, संस्कृति, अर्थनीति में जितने तरह के शोषण, उत्पीड़न, दमन और बर्बरताएँ हैं उनके खिलाफ उनका कवि तीव्र प्रतिकार करता है।

नागार्जुन की कविताओं में विस्थापित जन आकांक्षाओं के कई नये संदर्भ हैं। जन आकांक्षाओं को लेकर कवि की नींद भरी आँखों में पलने वाले सपने भी अजूबे हैं।

“चंदू मैंने सपना देखा” शीर्षक कविता इसका बेहतरीन उदाहरण है।

“चंदू मैंने सपना देखा, इम्तिहान में बैठे हो तुम/ चंदू मैंने सपना, पुलिसयान में बैठे हो तुम/ चंदू मैंने सपना, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर/ चंदू मैंने सपना देखा, लाये हो तुम नया कलेंडर”

इस कविता में स्वप्न में घटित वे सारे दृश्य रूप विन्यास की दृष्टि से एक वर्तुलाकार लय का निर्माण करते हैं जिसमें देशकाल, समय समाज का एक विडम्बनापूर्ण चित्र है लेकिन कवि नये कैलेंडर लाकर जनआकांक्षाओं को परिवर्तन का एक नया विश्वास सौंपता है।

बिगाड़ के डर से ईमान की बात कहने से नागार्जुन का कवि कभी परहेज नहीं करता। वह डंके की चोट पर कहता है –

“जनकवि हूँ, मैं क्यों हकलाऊँ” आत्मपरिचय की इस आवाज में एक ठोसपन है। जिसके भीतर सत्य और साहस का ओज होता है, उसकी सांसें की तरल ध्वनि में भी एक साबूत आवाज होती है। यह असाधारण ठोसपन नागार्जुन के कविकर्म की विशिष्ट पहचान है।

नागार्जुन की कविता आमजन के दुःख दर्द, संघर्ष और यातना के अनुभवों का एक नया स्वर है।

“कुली मजदूर हैं / बोझा ढोते हैं / खींचते हैं ठेला / धूल धुआँ भाप से पड़ता है साबका / थके माँदे जहाँ तहाँ हो जाते

हैं ढेर / सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन / आकर ट्राम के अन्दर पिछले डब्बे में / बैठ गये हैं इधर उधर तुमसे सटकर / आपस की उनकी बातकही / सच सच बातलाओ / नागवार तो नहीं लगती है ? / जी तो नहीं कुढ़ता है ? / धिन तो नहीं आती ?”

यह कविता अभिजन और बहुजन के बीच संवेदना की एक नई दृष्टि खोलती है। हमारी ऐन्द्रिकता का नया संस्कार करती है। मनुष्य-मनुष्य से घिनाए कि प्यार करे – यह प्रश्न बाबा की कविता ही पूछ सकती है किसी से।

श्रमजीवी जनता के दुःख और संघर्ष को उन्होंने एक दूसरी आँख से देखा है। नागार्जुन की एक कविता है “खुरदुरे पैर”। आठ पंक्तियों की यह छोटी सी कविता त्रिचालक रिकशावाला पर लिखी गई है। एक गरीब रिकशा चालक जो लोहे के कठोर पैडिलों पर बिबाईयाँ फटे पैरों से अपने फेफड़े की पूरी ताकत झोंक कर पसीने से लथपथ हाँफता हुआ हमें हमारे गन्तव्य तक पहुँचाता है लेकिन हम कभी उसकी उस पीड़ा और दर्द को नहीं महसूसते जो नागार्जुन का कवि महसूसता है –

“खुभ गए दुधिया निगाहों में / फटी बिबाईयाँ वाले खुरदुरे पैर / धँस गए / कुसुम कोमल मन में / गुट्ठल घट्टों वाले कुलिश कठोर पैर”

एक कवि की दुधिया निगाहों में जब बिबाईयाँ फटे खुरदुरे गुट्ठल घट्टों वाले कुलिश कठोर पैर धँसते हैं तो संवेदना की भूमि से करुणा की एक अजस्त्र धार फूट पड़ती है। इन बिबाईयाँ फटे पैरों से वह उसके पूरे जीवन यथार्थ को आर पार देखता है। जीने की उस अदम्य जिजीविषा को भी महसूसता है जो मौसम के हर शीत ताप को सह कर भी हताश या निराश नहीं दिखता।

श्रम सौंदर्य का ऐसा ही चित्रण निराला ने भी “वह तोड़ती पत्थर” कविता में खींचा है।

“खुरदुरे पैर” की संगति यहाँ विश्वप्रसिद्ध चित्रकार वानगाँग के एक चित्र से भी बैठती है – “ए पेयर ऑफ वूट्स I”

इसमें एक किसान के पुराने धूल धुसरित कीचड़ से सने बदरंग जूतों की एक जोड़ी का चित्र बड़ा सजीव ढंग से खींचा गया है। धूसर रंग के कैनवास पर एक जूता उल्टा पड़ा है। उसकी तल्ली घिस गई है – रंग बेनूर हो गया है लेकिन वह इतना जीवंत और

अनुशीलन

प्रभावकारी चित्र है कि देखने वाले की आँखें उससे बँध जाती है – ठीक दुधिया निगाहों में धँसे खुरदुरे पैरों की तरह। यह चित्र किसान जीवन के दुःखों की समग्र गाथा है। दिनरात कमर तोड़कर मेहनत करता, मौसम के हर प्रहार को झेलता – एक मेहनतकश कृषक की पीड़ा इस एक जोड़ी पुराने जूते में पूरी समग्रता से उभर आती है। नागार्जुन के “खुरदुरे पैर” की पंक्तियाँ भी इसी तरह के दृश्य विधान को हमारे सामने उकेरती हैं। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की विशद व्याख्या यों तो मुक्तिबोध ने की है पर मार्क्सवादी सौंदर्य की नक्काशीदार सुराही गढ़ने वाले सबसे बड़े कुंभकार नागार्जुन हैं। उन्होंने बंजर तोड़ते मजदूरों, खेत जोतते किसानों, धान कूटती किशोरियों को देखते हुए सकर्मक क्रिया के औदात्य रूप को पहचाना था इसलिए उनका कवि एक सुन्दर समरस दुनिया की रचना में श्रमिकों के साथ कलमगारों के श्रम का भी संतुलित समन्वय कर सका— “यह कैसे होगा” कविता में कवि कहता है—

“यथा समय मुकुलित हों / यथा समय पुष्पित हों / यथा समय फल दें / आम और जामुन, लीची और कटहल / तो फिर मैं ही बाँझ रहूँ / मैं ही न दे पाऊँ / परिणत प्रज्ञा का फल / यह कैसे होगा ? यह क्योंकर होगा ?”

भारत की वर्ण व्यवस्था पर आधारित नागार्जुन की कविता “हरिजन गाथा” हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि है। यह एक घटना प्रधान कथात्मक कविता है जो कवि की जनपक्षीय प्रतिबद्धता और मनुष्यधर्मी निष्ठा का जीवंत दृष्टांत है। बेलछी जनसंहार की पृष्ठभूमि पर लिखी गई इस कविता में परिवर्तनकामी चेतना का एक नया विस्फोट है। बिहार के एक गाँव में ऊँची जातियों द्वारा हरिजनों को जिन्दा जला देने की एक सामंती क्रूरता की अमानवीय घटना ने कवि की चेतना को संभावित भविष्य की एक नई परिकल्पना दी।

हरिजन बालक के जन्म और भविष्य की पहचान करने वाली इस कविता ने सामाजिक रूपान्तरण का एक नया भाष्य रचा। हरिजन कुल में भविष्य के क्रांतिकारी जननायक की छवि को देखने वाला क्रांतिचेता कवि नागार्जुन की दृष्टि का रेंज बहुत बड़ा है। वह नवजात हरिजन शिशु की हथेली पर उस हथियार के निशान देखता है जिससे उसके पूर्वजों को मारा गया – “आड़ी तिरछी रेखाओं में / हथियारों के ही निशान हैं / खुखरी हैं, बम हैं, असि भी है / गंडासा भाला प्रधान है” दलित नवजातक की इन रेखाओं को भविष्यदृष्ट कवि अपनी

खुली आँखों से पढ़ता है और उसे वराह अवतार के रूप में देश का सांस्कृतिक नायक घोषित करता है। यह एक युगान्तकारी घोषणा है जो नागार्जुन का कवि ही कर सकता है।

नागार्जुन के कवि व्यक्तित्व में आग और पानी का अदभुत समीकरण है। शोषक तंत्र के खिलाफ बोलते हुए वह आग हो जाता है लेकिन वही नागार्जुन इन्दुमति के मृत्युशोक पर आदिकवि कालिदास के साथ फूट-फूट कर रोता है, प्रवास में ‘सिन्दुर तिलकित भाल’ को विसूता है, तो कभी प्राइवेट बस में सफर करता हुआ ड्राइवर के गीयर के ऊपर हुक से लटकी नन्हीं कलाइयों की गुलाबी चूड़ियों को देख अपने भीतर नेह का एक सागर उमड़ता महसूस करता है। सुबह सबरे उसे देखिए बाबा ने बाह्य अनुभवों को आत्मसात करके कुछ अविस्मरणीय मुकरियाँ भी लिखी हैं जिसके शब्दों की लय में वे व्यवस्था और सत्ता पर मीठी छुरी चलाते हैं – “बातन की फुलझड़ियाँ छोड़े / बखत पड़े तो चट मुँह मोड़े / छन में शेर, छन में ही गीदड़ / क्या सखि साजन ? / ना सखि लीडर”

इस तरह नागार्जुन ने बहुविध दृश्यमयी कविता का एक बड़ा संसार रचा जिसमें राजनीति भी है – समय समाज की विसंगति भी, तंत्र भी है और मंत्र भी, खिचड़ी विप्लव भी है – लाल भवानी की उत्पत्ति भी। प्रेम और प्रकृति भी तो अर्थ धर्म की नीति भी। वहाँ मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी भी हैं, बाल सुलभ नादानी भी। उनके कवित्व की प्रच्छन्न संवादधर्मिता भी अदभुत है। उन्होंने आह्वान परक भाषा में यथास्थिति के विरुद्ध नई पीढ़ी को बड़े स्नेह से तर्जनी उठा कर राह दिखाई है— “तुम किशोर / तुम तरुण / तुम्हारी अगवानी में / खुरच रहे हम राज पथों की काई फिसलन / खोद रहे जहरीली घासें / पगडण्डियाँ निकाल रहे हैं / गुंफित कर रखी है हमने / ये निर्मल निश्छल प्रशस्तियाँ / आओ आगे आओ, अपना दाय भाग लो”

एक अटूट भरोसे के साथ उन्होंने अपने समय का कलात्मक और प्रामाणिक दस्तावेज नयी पीढ़ी को सौंपा है – हर समय की पड़ताल अपनी खुली दृष्टि से करने के लिए और अपना हक लेने के लिए। उस दाय को दृष्टि पथ में रख कर यही कहूँगी कि अपनी समग्रता में एकमुश्त बहुबचन है उनकी कविता जो हर जगह कबीर की तरह आँखन देखि का सच ही बयान करती है – कवि कल्पित कुछ भी नहीं कहता।

सम्पर्क : चतुर्भुज ठाकुर मार्ग, गन्नीपूर, पो. रमत्रा,
मुजफ्फरपुर-८४२००२, मो. ९४३१२८१९४९

हिंदी-साहित्य में अलक्षित : हंसकुमार तिवारी

डॉ. पंकज साहा

हिंदी-साहित्य कोश (भाग-२) में श्री हंसकुमार तिवारी को बड़ा स्पेस मिला है, पर इस लेखक, कवि, संपादक, अनुवादक को हिंदी -साहित्य में कोई स्पेस नहीं मिल पाया है। आलोचकीय उदासीनता के शिकार इस बहुआयामी रचनाकार का जन्म १५ अगस्त १९१८ ई. को पश्चिम बंगाल के मानभूम (अब पुरुलिया) जिले के दुलियाबड़ नामक गाँव में हुआ था।

पिता श्री ज्योतिन्द्रनाथ तिवारी एवं माता श्रीमती लालन देवी की सबसे छोटी संतान श्री हंसकुमार तिवारी का बचपन अपने ननिहाल चंपानगर (भागलपुर) में बीता। उनकी आरंभिक शिक्षा भागलपुर के क्रिश्चियन स्कूल में हुई। माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा उन्होंने टी.एन.बी. स्कूल, भागलपुर में पायी उसके बाद उनकी सांस्थानिक पढ़ाई में विराम लग गया।

लिखने की प्रेरणा उन्हें अपने फुफेरे भाई श्री गोपाल चंद्र पांडेय से मिली। उनकी पहली रचना 'बालक' में १९३३ में प्रकाशित हुई। पहले कवि फिर गीतकार के रूप में साहित्य-यात्रा शुरू करने वाले तिवारी जी ने भागलपुर से 'मुकुल' नामक हस्तलिखित पत्रिका का संपादन लगभग चार वर्षों तक किया। उस पत्रिका में स्थानीय रचनाकारों के अलावा महादेवी वर्मा, राजा राधिकरमण प्रसाद सिंह, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' जैसे बड़े रचनाकारों की रचनाएँ भी प्रकाशित होती थीं। चंपानगर के पुस्तकालय में 'मुकुल' की अनेक प्रतियाँ आज भी सुरक्षित हैं।

भागलपुर से प्रकाशित होने वाली 'छाया' नामक साप्ताहिक के संपादन को उन्होंने आजीविका का माध्यम बनाया। १९३८ में वे पटना से प्रकाशित 'बिजली' (साप्ताहिक) के संपादक बने। पंडित रामदहीन मिश्र ने उन्हें पटना से प्रकाशित बच्चों की मासिक पत्रिका 'किशोर' का संपादक बनाया। १९४१ तक वे 'किशोर' के संपादक रहे। फिर वे कलकत्ता आ गये एवं श्री विद्यालंकार ठाकुर के साथ साप्ताहिक 'विश्वमित्र' एवं साप्ताहिक 'भारत' में संपादन सहयोगी रहे। कुछ निजी कारणों से उन्होंने १९४२ में कलकत्ता छोड़ दिया एवं गया चले गये। वहाँ 'उषा' (साप्ताहिक) का सम्पादन १९४७ तक किया।

१९५१ से १९७४ तक तिवारी जी ने बिहार सरकार के विभिन्न कार्यालयों में राजभाषा के विशेष पदाधिकारी के रूप में कार्य किया। जनवरी, १९७५ से दिसंबर, १९७७ तक वे बिहार राष्ट्रभाषा

अनुशीलन

परिषद के निदेशक रहे। उनकी साहित्य-सेवा को देखते हुए उन्हें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, उत्तर प्रदेश सरकार एवं मध्य प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित किया गया। इनके अलावा उत्तर प्रदेश के तुलसीपीठ द्वारा 'विद्यावारिधि' की उपाधि प्रदान की गई। अखिल भारतीय बंगीय साहित्य सम्मेलन की ओर से १९७३ में 'अमृत पुरस्कार' प्रदान किया गया। एक गैर बंगाली को बांग्ला एवं हिंदी की सेवा करने के लिए यह सम्मान दिया जाना उस समय की एक क्रांतिकारी घटना थी।

कविता, कहानी, नाटक, निबंध, आलोचना जैसी विभिन्न विधाओं पर लेखनी चलाने वाले तिवारी जी का मन सबसे अधिक कविता, निबंध एवं आलोचना में ही रमा। इन्हीं विधाओं के लेखन में उन्हें सर्वाधिक सलता भी मिली। 'रिमझिम', 'अनागत', 'नवीना' 'आग पिये मोम की मूरत', 'मकड़ी मर गई' आदि इनके प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं। कविताओं एवं गीतों में जहाँ इनके हृदय-पक्ष की कोमलता के दर्शन होते हैं, वहीं निबंधों में उनके विचारों की प्रखरता स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। 'साहित्यिका' (१९४६), 'साहित्यायन' (१९४८) एवं 'संचयन' (१९५०) में संकलित विविध साहित्यिक विषयों पर लिखे गए निबंधों में उनका लेखकीय व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उभर कर आया है।

कला पर 'कला' नामक उनकी आलोचनात्मक पुस्तक १९३८ में युगांतर साहित्य मंदिर, भागलपुर से प्रकाशित हुई। माना जाता है कि कला-चर्चा पर यह हिंदी की पहली पुस्तक है। इसी पुस्तक से उन्हें हिंदी-साहित्य में प्रतिष्ठा भी मिली। उनकी इस पुस्तक को कई विश्वविद्यालयों ने अपने बी.ए (आनर्स) तथा एम.ए. के हिंदी-पाठ्यक्रमों में शामिल कर लिया था। कुछ परिवर्द्धित होकर इस पुस्तक का दूसरा संस्करण मानसरोवर प्रकाशन, गया से एवं तीसरा संस्करण विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (१९९९) से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में 'कला चर्चा', 'कला की परिभाषा', 'कला का वर्गीकरण', 'कला का प्रयोजन', 'सौंदर्य', 'कला का सौंदर्य' एवं 'कला की सार्वजनीनता' विषय पर अत्यन्त विद्वतापूर्वक विचार किया गया है। यह पुस्तक हिंदी के पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए प्रकाश-स्तंभ है।

हिंदी-साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'हिंदी-साहित्य के

बृहद् इतिहास के १४वें खण्ड का संपादन श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने किया है। इनके अलावा उन्होंने 'बंगला और उसका साहित्य' नामक पुस्तक का लेखन कर बांग्ला-भाषा एवं साहित्य का परिचयात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है।

कविता, आलोचना तथा निबंध के बाद तिवारी जी का सबसे उल्लेखनीय कार्य अनुवाद-कार्य है। बांग्ला भाषा एवं साहित्य से उन्हें अत्यधिक लगाव था। उन्होंने बांग्ला-साहित्य की दो सौ से भी अधिक कृतियों का अनुवाद किया है। उनका अनुवाद मूल के इतने करीब है कि हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ अनुवादकों में उनकी गिनती होती है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ उनके सर्वाधिक प्रिय लेखक थे। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' एवं अन्य अनेक कविताओं के अलावा उन्होंने उनका उपन्यास 'आंख की किरकिरी' नाटक 'चित्रांगदा' एवं कुछ निबंधों का भी सफल अनुवाद किया है। बांग्ला के प्रसिद्ध उपन्यासकार शरत्चंद्र, ताराशंकर बंद्योपाध्याय, विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, आशापूर्ण देवी, मनोज बसु, शंकर आदि के अनेक उपन्यासों का सरल एवं सुबोध भाषा में अनुवाद भी तिवारी जी ने ही किया। उसी अनूदित पुस्तक के आधार पर हिंदी में 'साहब, बीबी और गुलाम' का अनुवाद भी ने ही किया था। उसी अनूदित पुस्तक के आधार पर हिंदी में 'साहब, बीबी और गुलाम' नामक अत्यंत चर्चित फिल्म बनी थी। इन्हीं के द्वारा अनूदित ताराशंकर बंद्योपाध्याय का उपन्यास 'गणदेवता' एवं आशापूर्णा देवी का उपन्यास 'प्रथम प्रतिश्रुति' को ज्ञानपीठ का पुरस्कार मिला था। इसके अलावा इनके द्वारा अनूदित ताराशंकर बंद्योपाध्याय का उपन्यास 'आरोग्य निकेतन' मनोज बसु का उपन्यास 'रात का मेहमान' एवं विभूति भूषण बंद्योपाध्याय का 'आरण्यक' को साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी मिला था।

लेखक और अनुवादक के साथ-साथ तिवारी जी 'मानसरोवर' नामक एक प्रकाशन-संस्था के स्वामी भी थे। परंतु लगता है कि प्रकाशक के रूप में उनका अनुभव बहुत अच्छा नहीं रहा। एक लेखक को साक्षात्कार देते हुए उन्होंने कहा था, "लेखक को प्रकाशक नहीं होना चाहिए.... लेखकों के लिए यह एकदम उपयोगी नहीं है। इससे ध्यान बँट जाता है। इसके व्यावसायिक पहलू भी तो हैं, उसकी व्यवस्था में ही सारा समय लग जाता है। लिखने का समय ही नहीं मिल

अनुशीलन

पाता है।”

उनके इस कथन पर सहमति में सिर हिलाया जा सकता है। चालाक एवं प्रबंध-कुशल लेखकों को अपवाद में रखें तो जो भी लेखक प्रकाशन के धंधे में आये हैं, डूबे हैं. ‘हंस’ ने प्रेमचंद को कुछ प्रसिद्धि तो दिलायी, पर उन्हें डुबाने एवं उनके असमय निधन का कारण भी अंततः ‘हंस’ ही बना। ‘प्रेमचंद और उनकी कला’ निबंध में प्रेमचंद के संदर्भ में तिवारी जी का यह कथन उनपर भी शत-प्रतिशत लागू होता है- ‘खेद है कि उनकी सेवाओं से हिंदी जितनी गौरवान्वित हो सकी, हिंदी से उन्हें उतना गौरव प्राप्त न हो सका।” (साहित्यिका, पृ. १२७)

जीवन के जहर को अमृत की भांति पीने वाले इस रचनाकार

ने अपनी ‘विषपायी’ कविता में अपनी कामना व्यक्त करते हुए लिखा है

मैंने बेहिसाब पिया, पर पता जो हो/न हों/पर उफ है, न
पेशानी पे शिकन, /पानी हो गयी पिघली हुई अगन/जानता हूँ
कभी मर जाऊँगा, /कि यह जहर किसी के लिए जहर न रहे,/
अमृत हो आग की लहर न रहे/हम ही उसके अंतिम पीने
वाले हों।

जीवन को संग्राम मानने वाला यह महान लेखक, अनुवादक २७ सितंबर, १९८० को बंबई के टाटा कैसर इंस्टीट्यूट में जीवन से हार गया।

खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर, (प.बं.), पिन-७२१३०५, मोबाइल सं.-९४३४८९४१९०

ई.मेल : dr.pankajsaha@gmail.com

‘मुक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

- आनंद प्रकाशन : १७६/१७८, स्वीन्द्र सरणी, कोलकाता- ७००००७
पूजा बुक हाउस : ४७४, स्वीन्द्र सरणी, नियर बी.के. पॉल, कोलकाता- ७००००७
मोहन बुक एजेंसी : २, डेकर्स लेन, कोलकाता-७०००६३
पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता
राजकमल प्रकाशन : शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-१७
हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली
मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी
परिदृश्य प्रकाशन : १, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- ४००००२
प्रभात बुक सेंटर : सी/२०७, शीतल स्टार, शीतल नगर, एम.टी.एन.एल के पीछे,
मीरा रोड (ईस्ट), मुंबई- ४०११०७
ज्ञानदीप : नियर फिरायालाल, एच.बी. रोड, राँची-८३४००१
लालमणि साव बुक स्टॉल : आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-८७४३०१
गोविंद न्यूज पेपर मार्ट : कैट साइट, रेल बाजार, कानपुर-२०८००४
श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट : कैट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन)
कानपुर-२०८००४

संस्कृति का साहित्यिक विमर्श

श्री नारायण पाण्डेय

भारतीय संस्कृति को परिभाषित करने, उसके मूल्यायन और पुनर्मूल्यायन की चेष्टा हमारे अकादमीशियनों, राजनीतिज्ञों, साहित्यकारों द्वारा भी बराबर होती आ रही है। कोई यहाँ की संस्कृति को मिली जुली साझा संस्कृति कहता है तो कोई निछ हिन्दू संस्कृति। सबका आज वैश्वीकरण के युग में कोई भी देश किसी एक संस्कृति का संवाहक होने का दावा नहीं कर सकता। आज का मानव समाज वैश्विक संस्कृति का संवाहक है।

किन्तु आज भारतवर्ष में हम इतिहास के एक ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जिसमें इन दोनों विद्वानों का धनुषटंकार सुनायी पड़ रहा है। माननीय प्रणव मुखर्जी और श्री भागवत के पारस्परिक संवाद जहाँ इस दिशा में शुभ संदेश है तो उस पर की जानेवाली टिप्पणियाँ अशुभ संकेत हैं। अभी हाल में दैनिक जागरण में हृदय नारायण दीक्षित का आलेख पढ़ रहा था, तो उसी में कुलदीप नैयर, विख्यात पत्रकार का भी उल्लेख मिला। दीक्षित जी गैर हिन्दुत्ववादी चिन्तकों को कोस रहे तो कुलदीप नैयर को हिन्दुत्व से खतरा दिखायी पड़ रहा था। उन्होंने २० जून के आलेख में लिखा कि 'आज भारत एक चौराहे पर खड़ा है। हिन्दुत्व को मानने वाले सत्ता को हथियाना चाहते हैं और धर्म को बीच में लाये बिना सबके एक रहने के सिद्धांत को बाहर फेंक देना चाहते हैं।'

याद रहे सेकुलर संविधान २० जून दैनिक जागरण वही कुलदीप नैयर २७ जून के आलेख 'जरूरी हैं आपतकाल के सबक' में लिखा है 'इन्दिरा गांधी पर एक व्यक्ति के शासन की सनक सवार थी। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी भी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के निर्देश पर उसी घोड़े पर सवार हैं और राष्ट्र को एक खास मायने देने वाले विविधता से भरे समाज को बदलना चाहते हैं। उन्होंने वयोवृद्ध भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी को भी उद्धृत किया है लालकृष्ण आडवाणी ने कुछ समय पहले कहा था कि आपातकाल को दोहराये जाने की आशंका से इनकार नहीं किया जा सकता उन्होंने प्रधान मंत्री मोदी के शासन के तरीकों की हंसी उड़ाते हुये कहा था कि नेताओं का अहंकार तानाशाही की ओर ले जाता है। दुर्भाग्य देखिये कि अडवाणी को झिड़की देने के लिए भाजपा ने उन्हें उस कार्यक्रम में आमंत्रित नहीं किया। जिसमें आपातकाल के दौरान जेल जाने वालों को सम्मानित किया गया था।' पाठक नाम पर ध्यान न दें, ध्यान दें विचारधारा पर, जिसके खतरे की ओर नैयर ने संकेत किया है।

ऐसा नहीं है कि यह सांस्कृतिक विमर्श कोई नया है। अकादमिक जगत में संस्कृति का मूल्यायन भी अरसे से होता आ रहा है। पुरातात्विक खोजों से इसमें नया अध्याय जुड़ता रहा है, तो उनकी

विमर्श

व्याख्याओं पर भी सवाल उठते रहे हैं। जैसे आज भी बहुतेरे विचारकों को हिन्दू राष्ट्रवादी विचारक फूटी आँख नहीं देखना चाहते तो दूसरे हिन्दू राष्ट्रवाद को तानाशाही विचार मानते हैं।

आज हमारी राजनीति में नये संदर्भ में यह वितर्क जवाहर लाल नेहरू के इस कथन से जुड़ा कि भारत की संस्कृति सामासिक संस्कृति है। और हिन्दू राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का मसला तात्विक चिंतक हेडगेवार के विचारों से जुड़ा है। यहाँ जवाहरलाल नेहरू के विचारों को, रामधारी सिंह दिनकर की पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय से उद्धृत कर रहा हूँ। उन्होंने लिखा है कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है। और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहन जोदड़ों आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की सभ्यता तक पहुँचता है। दूसरी ओर इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार गहरा किया। इस संस्कृति में समन्वय तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात करने की अद्भुत योग्यता भी भारत के समग्र इतिहास में हम परस्पर दो विरोधी और प्रतिद्वन्दी शक्तियों को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है, और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है, जो एक बात को दूसरे से अलग करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। इसी समस्या का एक भिन्न प्रसंग में हम आज भी मुकाबला कर रहे हैं। आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियाँ हैं जो केवल राजनीति ही नहीं सांस्कृतिक एकता के लिये प्रयास कर रही हैं। लेकिन ऐसी भी हैं जो जीवन में विच्छेद डालती हैं, जो मनुष्य मनुष्य के बीच भेदभाव को बढ़ा देती हैं। नेहरू जी ने यह प्रस्तावना १९५५ में स्वतंत्र भारत के प्रथम पर्व में लिखी थी।

उस समय भी ये शक्तियाँ सक्रिय थीं, मगर आज कुछ अधिक सक्रिय हैं। आखिर वे कौन शक्तियाँ हैं, जो भारत की मिली जुली या सांझा सामायिक संस्कृति को वरदास्त नहीं कर पा रही है। बात किसी आधिकारिक विद्वान के सहारे कहना ज्यादा अच्छा है, वर्ना छोटे मुँह बड़ी बात कह जाने का अवकाश रहता है। मैंने सामासिक संस्कृति की बात पं. जवाहर

नेहरू के माध्यम से कहा। नेहरूजी राजनीतिज्ञ तो थे ही, इतिहास और संस्कृतिवेत्ता भी थे। उनकी बात में भी वजन है। आज की सांस्कृतिक राष्ट्रवाद सामंजस्यवाद और समन्वयवाद को नकारता है, उसकी दृष्टि में सामाजिक संस्कृति की अवधारणा गलत है।

मैं बात श्री विष्णुकान्त शास्त्री की कर रहा हूँ जो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सक्रिय कार्यकर्ता, बंगाल विधानसभा के सदस्य, सांसद व कई राज्यों के राज्यपाल तथा हिंदी के ख्यात लेखक और अपने राजनीतिक विचारधारा के मान्य चिन्तक तथा प्रवक्ता रहे हैं। मैं उनके दो आलेखों की चर्चा कर रहा हूँ। एक है 'मौलिक दस्ता एवं महान संगठनकर्ता डा. हेडगेवार' और दूसरा है, 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'। शास्त्री जी राजनीतिज्ञ और साहित्यकार दोनों थे। प्रथम निबन्ध में उनकी राजनीतिक विचारधारा हावी है, तब वे भारतीय संस्कृति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं। वे नेहरू जो कि सामासिक सांस्कृतिक का विरोध कर कहते हैं नेहरू जी की हठ धूमिल ही है, यह दृष्टि गलत है। हजारों वर्षों से भारत की जो संस्कृति चली आ रही है, वह संस्कृति, वह सारी की सारी चेतना मूलतः हिन्दू चेतना है।.... इसलिये भारत की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता है। ऐसा कहकर उन्होंने नेहरू का विरोध किया है एवं हेडगेवार की हिन्दू राष्ट्रीयतावादी चेतना की तारीफ की। हेडगेवार जी अनुशीलन दल के सक्रिय सदस्य रहे। स्कूल में वन्देमातरम का नारा लगाने के लिये स्कूल से निकाल दिये गये। १९२० के असहयोग आंदोलन में भाग लेने के कारण एक वर्ष का कारादण्ड भुगतना पड़ा। वे कांग्रेस के साथ भी गहराई से जुड़े थे। तिलक उन्हें प्रिय थे। मगर कांग्रेस और हिन्दू महासभा की मुस्लिम समझौतावादी नीति उन्हें पसन्द नहीं थी। वे ही इस विचारधारा के प्रवक्ता थे। जो आज उस समय से भी अधिक सक्रिय है। स्वतः इस चेतना को स्वयं सिध करने के लिये भारत की सामासिक संस्कृति का विरोध आवश्यक हो पड़ा। हेडगेवार ने जिस संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया था, उसके मूल में शक्ति संचय था। शक्ति प्रदर्शन नहीं। आज शक्ति संचय का उपयोग शक्ति प्रदर्शन में ढल गया है। जिसके निशाने पर आज की राजनीति है न कि संस्कृति। शायद डॉ हेडगेवार के संगठन का यह उद्देश्य नहीं था।

इस सांस्कृतिक संगठन के राजनीतिक रुपान्तरण से भिन्न है। शास्त्री जी जब संस्कृति की व्याख्या करते हैं तो अपने

विमर्श

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, निबन्ध में लिखते हैं कि समग्र मानव जीवन के मंगल का विधान करने वाली हमारी सांस्कृतिक चेतना ने जिस भारतीय समाज और राष्ट्र का निर्माण किया उसमें राजनीति की भूमिका को महत्वपूर्ण तो माना गया है किन्तु उसे सर्वोपरि नहीं माना गया है। उन्होंने भर्तृहरि को उद्धृत किया है—

*सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंसा दयालुरहप चार्थपरा वदन्या।
नित्यव्यख्या, प्रचनानित्य धना गमाच
वारांगनेव नृपतिनिरनेकरुया।*

राजनीति कभी सत्यमयी, कभी मिथ्यामयी, कभी प्रियवादिनी, कभी दयालु कभी लोभी, कभी उदार कभी अत्यंत खर्चीली कभी, अत्यंत अर्जनशील होती है। सचमुच वेश्या की ही तरह वह अनेकरूपा है। आज संस्कृति उसी की चपेट में आ गयी है।

उन्होंने वैदिक भाषियों को उद्धृत किया है—“मातृभूमि, पयोहपृथिव्याः”। धरतीमाता अनेक भाषाओं को बोलने वाले, अनेकधर्मों का अनुसंशा करने वाले जनों को धारणा करती है।

*जन विभ्रज्यी वहुधा विवाचसं,
नानाधमिणां पृथ्वी यशोकसमा।*

ऋषियों का उपदेश है कि इस देश के सभी निवासी कदम से कदम मिलाकर चलें, अपने विशेषताओं के बावजूद एकता का भाव रखें। मगर राजनेता आज के वैदिक ऋषियों की सुनते कहां हैं। वैदिक संस्कृति के जाने माने पंडित गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने भी कहा है कि ‘वैदिक संस्कृति को विशुद्ध आर्य न कह कर एक मिली जुली संस्कृति मानना ही ठीक रहेगा।’

(वैदिक संस्कृति, प. ६९, स० २००१)

शास्त्री जी भी जब राजनीति से घूमकर साहित्य पर आते हैं तब वे भी इसी मिलीजुली या साँझा संस्कृति की बात करते हैं। उन्होंने ने ही कहा है कि राजनीतिक राष्ट्रवाद की विकृति साम्राज्यवाद के रूप में कितनी आसानी से हो जाती है पश्चिमी देशों या मतवादों से आक्रांत देशों के इतिहास के अनुशीलन से समझा जा सकता है।

जैसे राजनीति का दखल ठीक नहीं उसी प्रकार वे मजहब के दखल को भी खराब मानते थे। उनका कहना है कि भारतीय संस्कृति में जाति, भाषा, उपासना पद्धति आदि

के आधार पर जिस पाकिस्तान की सृष्टि हुई वह टूट गया। भारत के वे राजनीतिज्ञ जो संस्कृति की खाल ओढ़कर धर्म की वकालत कर रहे हैं उन्हें कम से कम औरों की नहीं तो शास्त्री जी की बात जरूर माननी चाहिए। शास्त्री जी ही थे जो राजनीति से तो जुड़े मगर कहा करते थे, राजनीतिज्ञ अपने विश्वस्नीयता खो चुके हैं। उनकी बातों पर शेर सुनाते थे—

*सुन रहा हूं आप का उपदेश गोया,
गीत मीरा की तवायफ की जुबाँ से।।*

जब उन पर राजनीति हावी होती थी तब वे हिन्दू, राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की बात करते थे। मगर जब साहित्य हावी होता था तो साझा संस्कृति की बात करते थे। हिन्दी साहित्य के संदर्भ में उन्होंने कहा है कि सांस्कृतिक सेतु तैयार करने वालों में कबीर, दादू, रज्जब, बरबरना, वाजिद गरीबदास, आदि कवियों का योगदान रहा है। हमारे नेता आज जिस कबीर की मजार पर चादर चढ़ा रहे हैं, उनकी तारीफ शास्त्री जी ने इस प्रकार किया है,

*हमारे राम रहीम या केसो, अन्तह राम गति सोई।
बिसमिल, मोटि विसम्भवर एकै, और न दूजा कोई।*

और रसखान अगर कृष्ण की छटा पर मुग्ध हैं तो शास्त्री जी रसखान पर। मोरे को भी सलाम करते हैं इस शेर से –

*उसके फरोगे, हुश्र से जलते हैं सब चिराग।
शम्मा हरम हो या कि दीया सोमनाथ का।*

अगर परमात्मा एक ही है तो फिर साझा संस्कृति से इतना गुरेज क्यों। राजनीति का परदा हटाते ही सब साफ। उनको नेहरु की साझा संस्कृति का विरोध सहज राजनीति का विरोध है। यह सांस्कृतिक शुद्धता का वितर्क कोई नया नहीं है। राजनीति से भिन्न यह साहित्यकारों और इतिहासकारों तथा समाज शास्त्रियों के अध्ययन का भी विषय रहा है। अब तो राम नहीं भारतीय संस्कृति मिली-जुली संस्कृति है। सांस्कृतिक विशुद्धता कभी स्वीकार्य नहीं रही। विशुद्धता का महत्व अशुद्धता नहीं, परम्परा से चलकर आयी मानव मंगलकारी चेतना है।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने न्याय अभिषेक, कविता में लिखा है कि ये देश महामानव सागर है। आर्य, अनार्य, द्राविड़, शक हूणों, पठान-मुगल कितनी जातियां यहां और भारत को बनाने में अपना योगदान दे गयीं, जिसे हिन्दू रीति-नीति कहते हैं, वे उनके आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। रवीन्द्रनाथ ने नेहरु की ही तरह भारतीय संस्कृति को मिश्र

विमर्श

संस्कृति माना है। नेहरु के पहले वे विशुद्ध संस्कृतिवादियों के दल के नहीं थे।

हे मोर चित्त पुण्यतीर्थे जागोरे धीरे,
एई मानवेर सागर तीरे।
केउ नाही जाने कार आह्वाने के तो मानुषेधारा।
दुर्बार स्रोते एलो को था होते, समुद्रहोला हारा।
हथा आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़ चीन
शकहूण दक्षा पाठान मोगल एक देहे होले लीन॥

सबका मिलकर एक देह एकात्म हो जाना ही भारतीय संस्कृति है। इन्द्रधनुषी संस्कृति। रंग की/हरी, पीली/अलग अलग नहीं। रवीन्द्रनाथ सांस्कृतिक ऐक्य के प्रवक्ता थे। रवीन्द्रनाथ ने बाह्य संस्कृतियों के द्वन्द्व की निन्दा की जिस तरह है, उसी तरह एक ही संस्कृति के भीतर होनेवाले अन्तर्कलह की भी भर्त्सना की है। इस पर फिर कभी। इसे संस्कृति की रविन्द्रक चेतना कहा जाता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, काफी दिन शान्ति निकेतन रहे। वे रवीन्द्र चेतना के संवाहक के प्रति न झूठा मोह है न अहंकार। वे त्याग और तपस्या की कसौटी पर उसे कसते हैं। उन्होंने अशोक के फूल, में रवीन्द्रनाथ के विचारों का हवाला दिया है और अपनी बात कहते हुये लिखा है कि मुझे मानव जाति की दुर्लभ निर्मल धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखायी दे रहा है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचार्यों, विश्वासों और व्रतों को धोती बहाती यह जीवन्त धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का

आज जो रूप है, वह न जाने कितने त्याग और तपस्या का रूप है।

देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। द्विवेदी जी के इसी कथन के हवाले नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज', में लिखा है कि 'सच कहा जाय तो आर्य संस्कृति की शुद्धता अहंकार पर चोट करने के लिये ही 'अशोक का फूल लिखा गया है।' यह निबन्ध सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की निःस्सारता प्रभावित करता है।

द्विवेदी जी का कहना था कि मरे हुये बच्चे को गोद में दबाये रहने वाली बंदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं हो सकती। परम्परा या वर्तमान में अलगाववादी प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति नहीं है। राज नहीं प्राचीन ऋषियों द्वारा अनुमोदित कदम कदम पर सब को साथ लेकर चलने वाली संस्कृति भारतीय संस्कृति है। कथनी नहीं करनी में। और हमें रवीन्द्रनाथ और हजारी प्रसाद तथा नेहरु और शास्त्री जी के साझा, मिली जुली, सामासिक संस्कृति का ही पुर्नपाठ करना चाहिये, न कि किसी अन्य संस्कृति का। क्योंकि राजनीतिज्ञों के बतौर वे जो कहें, साहित्यकार के रूप में उनका यह कथन कि हमें साहित्य से यही शिक्षा लेनी चाहिए कि उपासना पद्धति और सामाजिक रीतिनीति की विभिन्नता के बावजूद समझी भारतीय स्वातंत्र्य विभिन्न उपासना पद्धतियां भाषाओं सामाजिक चेतना के प्रमुख पक्ष रहे हैं। बात एक ही है जिसे रवीन्द्रनाथ भी हैं। हमें राजनीति की अपेक्षा साहित्य के सांस्कृतिक संदेश को ही वरीयता देनी है। राजनीतिक दुराग्रह राजनीति के काम का हो सकता है, संस्कृति के लिए आत्मघाती है।

सम्पर्क : ४१२/३एफ, बक्सीखुर्द, दारागंज, इलाहाबाद-२११ ००६, मो. ८००४०४०५७६

चॉम्स्की और भर्तृहरि का व्याकरण : तुलनात्मक सन्दर्भ

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

चॉम्स्की अमेरिकी भाषाविज्ञानी हैं और भर्तृहरि भारतीय वैयाकरण। पर उनका व्याकरण-ग्रंथ आज की भाषावैज्ञानिक अपेक्षाओं की पूर्ति करता है। मूलतः दोनों ने व्याकरण ही लिखे हैं। चॉम्स्की का प्रवेश व्याकरण के क्षेत्र में उसके पी. एच.डी. शोध-ग्रंथ से हुआ था, जो (Syntactic Structures) के नाम से प्रकाशित हुआ। मूलतः यह व्याकरण-पुस्तक ही है, जिसमें वाक्य की संरचना पर विचार हुआ है। चॉम्स्की ने उसके बाद अपने व्याकरण की स्थापनाओं में अनेक संशोधन और परिवर्तन किए, पुनः पुनः सिद्धांतों की नयी स्थापनाएं की और इस विषय पर उनकी कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं।

इसके विपरीत भर्तृहरि यद्यपि अनेक पुस्तकों के लेखक हैं, पर उन्होंने व्याकरण का एक ही ग्रंथ लिखा-वाक्यपदीय। आज भाषाविज्ञान को उच्चतर व्याकरण (Higher Grammar) कहते हैं। इस दृष्टि से चॉम्स्की का व्याकरण एक उच्चतर व्याकरण ही है। पर आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले लिखा गया भर्तृहरि वाक्यपदीय भी सामान्य व्याकरण नहीं होकर एक उच्चतर व्याकरण है। चॉम्स्की का व्याकरण वाक्यीय व्याकरण है। भर्तृहरि का वाक्यपदीय भी वाक्य को अर्थीय केन्द्र में रखकर चलता है। चॉम्स्की की पहली व्याकरण पुस्तक का नाम वाक्य से जुड़ा हुआ है, पर वह वाक्य के साथ-साथ पद को भी इंगित करता है जिस आज अंग्रेजी में रूप (Morph) कहते हैं।

चॉम्स्की ने अपने व्याकरण में भाषा की तीन इकाइयों को लिया है-१. ध्वनि, २. वाक्य और ३. अर्थ। इन तीनों स्तरों को उसने दो संरचनाओं में विभक्त किया है- १. बाह्य संरचना और २. गहन संरचना। बाह्य संरचना के अंतर्गत वह ध्वनि और वाक्य को लेता है और गहन संरचना के अंतर्गत अर्थ को ग्रहण करता है। भर्तृहरि ने भी अपने व्याकरण में भाषा के तीन स्तरों या इकाइयों को लिया है। ये स्तर क्रमशः- शब्द, वाक्य और पद का विवेचन करते हैं तथा इन तीनों का संबंध अर्थ से जोड़ा गया है। यद्यपि उसने भाषा की बाह्य संरचना और गहन संरचना जैसा प्रभेदीकरण नहीं किया है, फिर भी उसके द्वारा निरूपित शब्द, वाक्य और पद ये तीनों बाह्य संरचना के रूप में ही उपस्थित होते हैं और जिस अर्थ के साथ इन तीनों के संबंध को निरूपित निर्दिष्ट किया गया है वही गहन संरचना बनकर विवेचित होता है। भर्तृहरि का व्याकरण अर्थ को महत्वपूर्ण मानता है और यह भी मानता है कि जो अर्थ को निरूपित करने वाला न हो वह व्याकरण ही नहीं है। चॉम्स्की ऐसा नहीं मानते। यह भारतीय दृष्टिकोण की विशेषता है। चॉम्स्की मुख्यतः बाह्य संरचना के वैयाकरण है, पर भर्तृहरि गहन संरचना

विमर्श

के व्याकरण भर्तृहरि के व्याकरण के नाभिकेन्द्र में अर्थ है। इस अर्थ के लिए ही वह शब्द वाक्य और पद निरूपण विश्लेषण और विवेचन करते हैं। दूसरी और चॉम्स्की मूलतः वाक्य-संरचना का विश्लेषण-विवेचन करते हैं और वाक्य की संरचना अर्थ से किस तरह साकल्य में जुड़ती है, उसके कारण अभिव्यक्ति की एकार्थता-अनेकार्थता पर प्रकाश डालते हैं।

केवल ध्वनि में अर्थ नहीं होता। इसलिए पश्चिमी वैयाकरणों ने उसे भाषा की अर्थहीन लघुतम इकाई माना है। फिर भी चॉम्स्की अपने व्याकरण की बाह्य संरचना में ध्वनि की इकाई को महत्व देते हुए उसका विवेचन करते हैं, क्योंकि वाक्य ध्वनियों से ही बनते हैं। भर्तृहरि सार्थक लघुतम इकाई के बतौर रूप या पद को लेते हैं जिसे आज मुक्त रूप कहते हैं। फिर वाक्य का और अंत में पद (Morph) का विवेचन करते हैं। इस तुलनात्मक संदर्भ में दोनों के यहाँ जो व्याकरण का त्रिक बनता है उसमें भर्तृहरि का त्रिक अधिक समीचीन और युक्ति-युक्त प्रतीत होता है, जबकि ध्वनि की इकाई को ग्रहण करने के कारण चॉम्स्की के व्याकरण का त्रिक उतना महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो पाता है।

भर्तृहरि शब्द और अर्थ दोनों को सम्पृक्त मानते हैं। उनकी दृष्टि में ये दोनों दो हैं ही नहीं, बल्कि एक ही हैं। पर चॉम्स्की इन्हें दो मानते हैं। इसीलिए भाषा की दो संरचनाओं का निर्देश करते हैं-१. बाह्य संरचना और २. गहन संरचना। भर्तृहरि के यहाँ अर्थ कोई अलग से इकाई नहीं है। इसीलिए वाक्यपदीय में अर्थ का विवेचन अलग कांड के रूप में नहीं किया गया है, बल्कि वह शब्द, वाक्य और पद के साथ अर्थ का एकात्मता-तादात्म्यता के रूप में विवेचन करते हैं। यहाँ दोनों अपनी-अपनी परंपराओं से प्रभावित होकर व्याकरणिक चिंतन में प्रवृत्त होते हैं। चॉम्स्की के सामने यूनानी दार्शनिक चिंतकों के भाषा, चिंतन की विरासत है, तो भर्तृहरि के सामने प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के भाषा-चिंतन का विवेक।

चॉम्स्की अपने व्याकरण में केवल वाक्य और अर्थ के संबंध पर प्रकाश डालते हैं, पर वाक्य से अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया क्या है, इस पर वह प्रकाश नहीं डालते। वाक्य से अर्थ कैसे गृहीत होता है इसका भी वह विवेचन नहीं करते और न ही वह अर्थ कैसे गृहीत होता है इसका भी वह विवेचन नहीं करते और न ही वह अर्थ के घटक-तत्त्वों पर विचार कर पाते हैं। पद से कैसे अर्थ-ग्रहण होता है इसका तो उस तरह विवेचन

नहीं कर पाते जिस तरह भर्तृहरि ने विस्तार-पूर्वक पद से अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। यही नहीं, भर्तृहरि वाक्य से अर्थग्रहण किए जाने के संदर्भ में अनेक घटक तत्त्वों का निरूपण और विवेचन करते हैं। चॉम्स्की का अपना व्याकरण भाषा में रूप-तत्त्व के महत्व की उपेक्षा करता है। इसीलिए वह उसे अपना विवेच्य नहीं बना पाते हैं। भर्तृहरि पद के अनेक रूपों और उससे अर्थग्रहण की भूमिका में अनेक तत्त्वों का महत्व भी निरूपित करते हैं।

भर्तृहरि के व्याकरण में भाषा-चिंतन की पूर्व दार्शनिक मान्यताओं का विवेचनात्मक उल्लेख तो मिलता ही है, साथ ही उसका यथायोग्य खण्डन-मण्डन भी दीख पड़ता है। भर्तृहरि इसी पृष्ठभूमि में अपनी मौलिक स्थापनाएं करते हैं। पर चॉम्स्की के व्याकरण में पूर्ववती दार्शनिकों से उन्हें भाषाचिंतन का कोई आधार प्राप्त नहीं हो पाया है। भर्तृहरि मानते हैं कि अर्थ की केन्द्रीयता को उपेक्षित करके कोई व्याकरण नहीं लिखा जा सकता। दूसरे शब्दों में वह अर्थ-विवेचन को व्याकरण का केन्द्रीय विषय मानते हैं। चॉम्स्की ने अपने व्याकरण में वाक्य की प्रजननात्मकता पर विचार किया है। उसकी अनंत संभावनाओं पर विचार किया है। भर्तृहरि को भारतीय दार्शनिक आधार से ही यह बोध होता है कि शब्द ब्रह्म है और वह इसकी विधिवत् स्थापना करते हैं। इसीलिए उनके द्वारा शब्द को विवेचित करने वाले कांड का नाम शब्दब्रह्मकाण्ड है। जैसे ब्रह्म की अनंत व्यापकता है, अनंत संभावी फलप्रदता है, वैसे ही शब्द की अनंत व्यापकता है। व्याकरण-लेखन में ऐसा कोई परम दार्शनिक पद ईसाईयत के आधार पर भी चॉम्स्की नहीं ढूँढ़ पाते हैं जबकि बाइबिल में भी सृष्टि के आरंभ में शब्द की महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डाला गया है।

चॉम्स्की का व्याकरण विश्लेषणात्मक अधिक है, विवेचनात्मक कम। ठीक इसके विपरीत भर्तृहरि का व्याकरण विवेचनात्मक अधिक है और विश्लेषणात्मक कम। चॉम्स्की के व्याकरण में अर्थ के स्वरूप का निरूपण नहीं है जबकि भर्तृहरि ने अपने शब्दार्थ-विवेचन में शब्दार्थ के स्वरूप का सम्यक निरूपण किया है। इस तुलनात्मक मंथन और विवेचन से यह निष्कर्षित होता है कि उच्चतर व्याकरण की दृष्टि से आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व का भर्तृहरि का चिंतन कहीं अधिक समृद्ध है। उसका व्याकरण भाषा की मुख्य सोद्देश्यता और सम्प्रेषणीयता पर आधारित है, जबकि चॉम्स्की का व्याकरण

भाषा या वाक्य के स्वरूप-विश्लेषण पर आधारित है। यदि चॉम्स्की का व्याकरण वाक्य व्याकरण है, तो भर्तृहरि का व्याकरण भी वाक्यीय व्याकरण ही है। भर्तृहरि भाषा की साम्प्रैषणिक इकाई भी वाक्य को ही मानते हैं, महावाक्य या प्रोक्ति को नहीं। यदि चॉम्स्की अपने व्याकरण में हर प्रकार से वाक्य को महत्वपूर्ण सिद्ध करते हैं तो भर्तृहरि अपने व्याकरण में शब्द और पद के दो बिंदुओं से उभरने वाले दो रेखाओं को ऊपर उठाकर जिस बिंदु पर मिलाते हैं वह वाक्य का ही शिखर बिंदु (है और) शब्द और पद के बीच एक ऐसी अदृश्य रेखा विद्यमान है जिससे बनने वाले त्रिक्र में अर्थ की केन्द्रियता है।

इस प्रकार चॉम्स्की और भर्तृहरि के बीच भिन्नताओं के साथ-साथ जो समानताएँ मिलती हैं, वे महत्वपूर्ण हैं और वह डेढ़ हजार वर्ष पूर्व व्याकरण में अर्थ को जो नाभिकेन्द्रियता प्रदान करते हैं वहाँ तक चॉम्स्की के व्याकरण की पहुँच नहीं हो पाती है। चॉम्स्की वाक्य की बाहरी चीर-फाड़ करता है, पर भर्तृहरि वाक्यों को सीधा अर्थ से जोड़ते हैं और उसे विभिन्न रूपों में स्वरूपित करते हैं तथा भाषा में वाक्यार्थ को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण और समीचीन मानते हैं। भर्तृहरि के वाक्यार्थ का विवेचन किया है। इस विवेचन में उनके द्वारा अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का उल्लेख किया गया है। आज पश्चिम में जब वाक्य की चर्चा की जाती है तब उसमें कभी-कभी संदर्भ के अनुसार एक शब्द पूरे वाक्य का स्थान ले लेता है, अर्थात् एक शब्द कभी-कभी अर्थ की दृष्टि से वाक्य बन जाया करता है और उसी तरह एक वाक्य अपनी पूरी आकांक्षा और सांदर्भिक अर्थवत्ता को व्यक्त करने के कारण प्रोक्ति बन जाया करता है। पर इसका विवेचन आज से बहुत पूर्व भारतीय वैयाकरणों में भर्तृहरि ने कर दिया था। भर्तृहरि के यहाँ द्वयर्थक वाक्य का भी प्रतिपादन है। पर यह प्रतिपादन मूलतः वाक्य-संरचना के स्तर पर नहीं है। यहाँ वाक्य की द्वयर्थकता भी वाक्य में न्यस्त शब्द पर आधारित है।

पाश्चात्य आधुनिक भाषाविज्ञानी चॉम्स्की के अनुसार यदि हम ऐसा कोई एक वाक्य लें- 'यह मेरा चित्र है, तो इसके तीन अर्थ होंगे- १. इस चित्र में मैं बिम्बित हूँ, २. इस चित्र का स्वामी मैं हूँ। ३. यह मेरे द्वारा बनाया गया चित्र है। चॉम्स्की के अनुसार ऊपर की एक बाह्य संरचना के अंतर्गत ये तीन गहन संरचनाएँ निकलती हैं। पर ये तीनों गहन संरचनाएँ भिन्न-भिन्न संदर्भ में ही सार्थकता प्राप्त करेंगी। वस्तुतः यहाँ जो

अनेकार्थता है, वह शब्द पर ही आधारित है। वह शब्द यहाँ मेरा है। यदि इस सार्वनामिक की जगह कोई संज्ञा पद होता तो उसके साथ संबंध परसर्ग भी जुड़ा होता। जैसे- यह आत्माराम का चित्र है। यहाँ 'का' परसर्ग है। भर्तृहरि का सारा विवेचन संस्कृत में है। वहाँ इसका अंतरण इस प्रकार होता 'मम चित्र' और आत्मारामस्य चित्र'। मम एक शब्द है पर आत्मारामस्य एक पद है। अनेकार्थता इसी शब्द और पद में निहित है। 'मेरा' का ही अर्थ है कि इस चित्र में मैं हूँ। अर्थात् यह चित्र मुझी को प्रतिबिम्बित करता है। फिर यह मेरा का ही अर्थ है कि इस चित्र का स्वाभिमित्व मेरा है और फिर मेरा का ही तीसरा अर्थ है कि यह चित्र मेरे द्वारा बनाया गया है। किसी और के द्वारा नहीं, नंद लाल बोस के द्वारा नहीं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा नहीं और महादेवी वर्मा के द्वारा भी नहीं। शब्द की अनेकार्थता की यही स्थिति 'आत्माराम का चित्र' वाक्यांश के साथ जुड़ी हुई है। भर्तृहरि ने शब्द पर आधारित एकाधिक अर्थता या अनेकता पर विचार किया है। चॉम्स्की की दृष्टि में वाक्य और अर्थ की सत्ता भिन्न-भिन्न है। इसीलिए यहाँ तीन गहन संरचनाओं का बाह्य संरचना में वह रूपान्तरण मानते हैं। पर भर्तृहरि की मान्यता शब्द और अर्थ की तथा इसी प्रकार वाक्य और अर्थ की अद्वैतता की है। बाह्य संरचना वाक्य और गहन संरचना अर्थ की द्वयता और अद्वयता का यह अन्तर एक बड़ा अन्तर है। फिर भर्तृहरि ये तीनों अर्थ प्रतिभा वाक्यार्थ से एक साथ ग्रहण करते हैं। चॉम्स्की का व्याकरण मूलतः वाक्य-संरचना का व्याकरण है, पर भर्तृहरि का व्याकरण वाक्यार्थ का व्याकरण है। इसलिए आज जिस अर्थ का निर्देश चॉम्स्की कर रहे हैं, उसे भर्तृहरि प्रतिभा द्वारा वाक्य-साकल्य में निरूपित कर चुके हैं। इस प्रकार आज जो विवेचन चॉम्स्की कर रहे हैं वहाँ तक आज से डेढ़ हजार साल पहले भर्तृहरि का वाक्यार्थ-प्रतिपादन पहुँच चुका था। चॉम्स्की पहले बाह्य संरचना की बात करते हैं। फिर उसकी गहन संरचना की बात उठाते हैं। भारतीय परंपरा में बौद्ध दार्शनिकों ने भी वाक्य-लक्षण और वाक्यार्थ पर विचार किया है। इन दार्शनिकों के अनुसार वाक्य अंतःस्थित है। दूसरे शब्दों में ये दार्शनिक बाह्य संरचनात्मक वाक्य के द्वितीय वाक्य मानते हैं और अंतःस्थित वाक्य को प्राथमिक वाक्य को महत्व देते हैं। इस अंतःस्थित वाक्य के साथ चॉम्स्की की गहन संरचन्य की तुलना अपेक्षित है। चॉम्स्की बाह्य संरचना से गहन संरचना की ओर जाते हैं। बाह्यता से आंतरिकता की ओर जाते

हैं। पर भारतीय बौद्ध दार्शनिकों ने आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व चॉम्स्की की स्थापना के विपरीत वाक्य के संदर्भ में अपनी मौलिक स्थापना की थी और घोषित किया था कि वाक्य अंतःस्थित है अर्थात् उसकी प्राथमिकी स्थिति आंतरिकता में है। इस दृष्टि से चॉम्स्की का प्रतिपादन प्रतीपता में चलता है, जो असंगत सिद्ध होता है। आंतरिकता में तीन संभावित गहन संरचनाओं को समेटने वाला यह वाक्य संदर्भ की सापेक्षता में एक अर्थवक्ता को लेकर अपनी बाह्य स्थिति बनाता हुआ प्रकट होता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि चॉम्स्की जैसे क्रांतिकारी भाषा चिंतक के रहते हुए भी पश्चिम का भाषाविज्ञान आज इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभिक चरण तक ऐसी मौलिक और सही स्थापना करने की स्थिति में नहीं आ पाया है।

चॉम्स्की ने विशेषतः वाक्य की बाह्य संरचना पर विचार किया है। अर्थ को वह गहन संरचना के अंतर्गत लेते हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वाक्य को स्वरूपित करते हुए बताया है कि वाक्य उस पद-समूह की संज्ञा है जिसमें अर्थ की समाप्ति होती है अर्थात् अर्थ अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है- 'पदसमूहों वाक्योमर्थपरिसमाप्तौ' (अर्थशास्त्र अधिकरण- २, अ. १० पृष्ठ; २६) यहाँ वाक्य को परिभाषित-स्वरूपित करते हुए ही उसकी अर्थात्मक सत्ता को अपरिहार्य माना गया है। पर चॉम्स्की के यहाँ वाक्य के स्वरूप स्पष्टीकरण में अर्थ की इस अपरिहार्यता का कहीं कोई विवेक नहीं है।

चॉम्स्की ने संज्ञा पदबंध क्रिया पदबंध को ही वाक्य कहा है। अर्थात् वाक्य संज्ञापद और क्रियापद के योग से निष्पन्न होता है। भारतीय परंपरा में अमर सिंह ने अपने अमरकोश में वाक्यों को परिभाषित करते हुए इन दोनों पक्षों को अपने ढंग से बहुत पहले स्पष्ट कर दिया था। उनके अनुसार सुप् एवं तिङ् के संयोग से जिन पदों का अंत होता है उसी पद समूह को वाक्य कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कारक से अन्वित क्रिया पद ही वाक्य है। यहाँ कारक से अन्वित जैसा विशेषण पदबंध संज्ञा पदबंध के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि कारक संज्ञा और सर्वनाम से ही जुड़ते हैं। चॉम्स्की के नामिक (Nominal) के अंतर्गत संज्ञा और सर्वनाम दोनों का समावेश होता है। इस पदबंध के साथ क्रिया पदबंध के जुड़ने की अपेक्षा को अमरकोशकार ने आज से सैकड़ों वर्ष पहले प्रतिपादित कर दिया था। इस दृष्टि से चॉम्स्की वाक्य-भाषाविज्ञान या वाक्य-व्याकरण के संदर्भ में पहले ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जिनकी संज्ञापदबंध

और क्रियापदबंध वाली स्थापना मौलिक रूप में सामने आती है। फिर भारतीय परंपरा से उनका एक बड़ा अंतर यह भी है कि भारतीय परंपरा का वाक्य-विवेचन जहाँ वाक्यार्थ से सम्पृक्त है वहाँ चॉम्स्की के वाक्य-विवेचन में सम्पूर्णतः और सोद्देश्यतः ऐसा नहीं है। भर्तृहरि का वाक्य-विवेचन मूलतः वाक्यार्थ का विवेचन है। भर्तृहरि ने वाक्य को स्वरूपित करते हुए वाक्य को केवल नामिक और क्रियात्मक के रूप में नहीं लिया है। वह और गहनता में जाकर वाक्य को स्वरूपित करते हैं। तभी वे आख्यात (क्रिया) पद को वाक्य कहते हैं, क्योंकि केवल आख्यात से भी वाक्य की रचना की जाती है। चॉम्स्की जिस बाह्य वाक्य-संरचना को मानते हैं, उसमें यदि इतना ही कहा जाए कि (Come in) तो वाक्य पूरा हो जाता है। संस्कृति में 'आगच्छ' हिंदी में 'आ जाओ' से वाक्य निष्पन्न हो जाता है। निस्संदेह इसका नामिक या संज्ञापदबंध प्रच्छन्न है, जो आंतरिकता के स्तर पर है, अर्थात् चॉम्स्की की गहन संरचना के स्तर पर है तो बाह्य संरचना के स्तर पर केवल क्रिया पदबंध से ही वाक्य निष्पन्न हो जाता है। इसका प्रतिपादन भर्तृहरि करते हैं, चॉम्स्की नहीं। भर्तृहरि पद-संघात को अर्थात् पदसमूह को वाक्य मानते हैं, पर ऐसा पदसमूह जिसमें आख्यात या क्रियात्मक (Verbal) विद्यमान हो और इस क्रियात्मक के अतिरिक्त जो भी पद आते हैं वह नामिक तो होंगे ही। पदसंघात में भर्तृहरि पद को दो रूपों में स्पष्ट करते हैं। यह पद जातिपरक और व्यक्तिपरक होगा, अर्थात् जातिवाचक और व्यक्तिवाचक संज्ञा से युक्त होगा। भर्तृहरि ने क्रम को भी वाक्य कहा है, क्योंकि क्रम में पदों के आने से ही वाक्य बनता है। इन क्रमों के बुद्धिगत पारस्परिक समन्वय से वाक्य निष्पन्न होता है। भर्तृहरि ने प्रथम पद को भी वाक्य माना है। यथा-सम्बोधन में पुकारा गया कोई व्यक्तिवाची नाम- 'राम सिंह'। यदि कोई रुका हुआ व्यक्ति जाते हुए राम सिंह को पुकार रहा है, तो उसका अर्थ है राम सिंह, इधर आओ। पर यदि कोई चलता हुआ व्यक्ति अपने आगे चलने वाले राम सिंह को पुकार रहा है तो उसका अर्थ है-राम सिंह रुक जाओ। पर बाह्य संरचना के स्तर पर कहा गया केवल राम सिंह प्रथम पद अपने आप में एक वाक्य बन जाता है, जिसका उत्तरपद आंतरिकता में तो है, पर यह बाह्य स्फोट में नहीं है, अर्थात् गहन संरचना में तो है पर बाह्य संरचना में स्पष्ट नहीं हुआ है। अंततः भर्तृहरि ने पदों की पारस्परिक आकांक्षा

को वाक्य कहा है, जिसको आज के पश्चिमी भाषाविद् पारस्परिक, व्याकरणिक (Cohesion) और अर्थ-संसक्ति कहते हैं। भारतीय परंपरा की यही साकांक्षता सैकड़ों वर्ष पूर्व प्रतिपादित हो चुकी है। पर भर्तृहरि ने वाक्यों का यह अभिलक्षण विभिन्न न्यायवादियों के अनुसार स्पष्ट- किया था।

पुण्यराज ने भर्तृहरि द्वारा उल्लिखित वाक्य के आठ लक्षणों का विभाजन दो रूपों में किया है। पहले को अखण्ड पक्ष कहते हैं और दूसरे को खण्ड पक्ष। अखण्ड पक्ष मूलतः वाक्य का साकल्य (Whole) परक पक्ष है, जबकि खण्ड पक्ष वाक्य का आंशिक पद (Partial Lexis) वाला पक्ष है। इसी को वाक्यार्थ पर विचार करने वालों ने वाक्यवाद और पदवाद जैसे दो भिन्न-भिन्न रूपों में विवेचित-व्याख्यायित किया है। वाक्यवाद में वाक्यार्थ वाक्यगत होता है। वह साकल्य में स्पष्ट होता है, जबकि पदवाद में यह पदार्थ के संयोग, अन्वय से स्पष्ट होता है। भर्तृहरि ने जिस संघात शब्द को निर्दिष्ट किया है, उसमें जाति, व्यक्ति, अव्यय-रहित स्फोट, लक्षण शब्द तथा इन सबका बुद्धिगत समन्वय इनको ग्रहण किया है। पर पदवादियों ने खण्ड पक्ष के अंतर्गत आख्यात शब्द, पदसंघात, क्रम, प्रथम पद, समस्त साकांक्ष पद जैसे पाँच वाक्य-लक्षणों का समाहार किया है। पुनः खण्डपक्ष यानी पदवाद के अभिहितान्वय पक्ष और अन्विताविधान पक्ष जैसे दो भेद किए हैं। यहाँ आख्यात, प्रथम पद एवं समस्त साकांक्ष पद इन तीन को अन्विताविधान के अंतर्गत निर्दिष्ट किया है तथा पदसंघात एवं क्रम को अभिहितान्वय पक्ष के अंतर्गत रखा है। वाक्यवाद अथवा अखण्ड पक्ष का विभाजन पुनः दो भेदों में किया गया है। मूलतः इस विभाजन में तीन शेष वाक्य-लक्षणों को समाहित किया गया है। यह विभाजन अंतःस्फोट और बाह्य स्फोट में जाति स्फोट एवं व्यक्ति स्फोट में हुआ है। इनके पुनः दो भेद

किए गए हैं। यहाँ जाति स्फोट में संघात तथा संघात में विद्यामन जाति को साथ ही व्यक्ति स्फोट के भीतर अवयव-रहित स्फोट लक्षण शब्द का समावेश किया गया है।

पुण्यराज जैसे भर्तृहरि के व्याख्याकार ने भर्तृहरि द्वारा वर्णित इन लक्षणों को अव्याप्ति और अतिव्याप्ति जैसे दोषों से मुक्त मानते हुए समीचीन घोषित किया है। अभिहितान्वयवाद भट्ट मीमांसकों के द्वारा समर्थित और मान्य है। कुमारिल भट्ट प्रसिद्ध मीमांसावादी थे। उनके अनुयायियों को भट्ट मीमांसक कहा जाता है। इसी तरह दूसरे मीमांसावादी प्रभाकर थे। उनसे जुड़े मीमांसक प्रभाकर मीमांसक कहे जाते हैं। अभिहितान्वयवाद के अंतर्गत पद संघात और क्रम को ग्रहण किया जाता है। इनके अतिरिक्त आख्यात शब्द, प्रथम पद, समस्त साकांक्ष पद जैसे शेष वाक्य-लक्षणों को अन्विताविधानवादियों के द्वारा लिया गया है। अभिहितान्वय पक्ष का जो समाश्रयण है उससे संघात वाक्य लक्षण स्पष्ट होता है। भर्तृहरि की यह स्थापना रही है कि पद के अकेलेपन में जो अर्थ होता है, उसका जो वाचक या संकेतित होता है वह वाक्य में प्रयुक्त होने के बावजूद अपने उसी अर्थ को वाचित-प्रकाशित करता है। पर पदों के पारस्परिक संबंधों से उसके प्रथम सांकेतिक अर्थ के अतिरिक्त जो अधिक अर्थ निष्पन्न होता है, वही वाक्यार्थ कहलाता है। यह मूलतः उनके पदों पर टिका हुआ होता है। पद जब वाक्य में परस्पर अन्वित होते हैं तो उससे उत्पन्न होने वाला अतिरिक्त विशिष्ट अर्थ संसर्ग कहा जाता है। वही मूलतः वाक्यार्थ है। चॉम्स्की के यहाँ वाक्यार्थ के सन्दर्भ में खंडवादी या पदवादी और साकल्यवादी या वाक्यवादी जैसा दृष्टिकोण या विश्लेषण-विवेचन प्राप्त नहीं होता है। वह पदवादी दृष्टि तक ही अपने विप्लेषण-विवेचन में सीमित रह जाते हैं। भर्तृहरि के सामने चॉम्स्की की यही सीमा है।

सम्पर्क : साईकृपा, ५८, लाल एवेन्यू, डाकघर- छेहर्टा, अमृतसर-१४३१०५ (पंजाब), मो. ९८७८६४७४६८

आज की कविता और भाषा

सुधीर रंजन सिंह

आज की कविता से मेरा आशय उन सभी कविताओं से नहीं है, जो आज लिखी जा रही हैं। कवियों की चार-पाँच पीढ़ियाँ सक्रिय हैं। सभी एक 'आज' में शामिल नहीं हो सकतीं। ९० के आसपास जिन कवियों का रचना-काल शुरू होता है, और जो अब युवा नहीं हैं, लेकिन इस समय का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, यहाँ मेरा आशय उनकी कविता से है। इससे पहले की पीढ़ी को आठवाँ दशक का नाम दिया गया था। उसी के वजन पर बद्री नारायण के बाद की पीढ़ी के लिए 'लौंग नाइन्टीज' नाम से अंगरेजी मुहावरा गढ़ा गया। यह सही है, मैं मानता हूँ कि कविता में नौवाँ दशक अलग से दिखाई पड़ता है। भाषा के स्तर पर भी इसमें कुछ महत्वपूर्ण है।

९० के दशक से कई नए परिवर्तन हुए। समाजवादी सत्ता का प्रतीक चूर हुआ। वैश्वीकरण और बाज़ारवाद का बड़ा दौर शुरू हुआ। सूचना संजालों ने बड़े पैमाने पर समाज, राजनीति और संस्कृति को कसना शुरू किया कविता और कविता की भाषा भी उसकी पकड़ से बाहर नहीं है। 'पकड़ से बाहर नहीं है' का एक अर्थ है हमारे कवियों पर उसकी चमक-दमक का असर। दूसरा अर्थ है कविता और उसकी भाषा को बाजारवाद और सूचना संजालों द्वारा मुनाफे के लिए हथियाने का काम। यह काम आज जोरों पर है। यह जोर-जबर्दस्ती का मामला नहीं है। इसकी गुंजाइश खुद कविता में होती है।

प्रचलित धारणा है कि कविता भाषा की ही विशेष शैली अथवा विशेष रूप है। भाषा के उस विशेष रूप को, जिसे कविता कहा जाता है, अन्य संदर्भों में भी बखूबी घटित किया जा सकता है, और इसमें कोई बुराई नहीं है। किसी भी समाज में काव्येतर विधाओं और रूपों की बड़ी संख्या होती है जिसमें काव्य-भाषा का इस्तेमाल होता है। यह इस्तेमाल आज विज्ञापनों में खूब होता है। इस्तेमाल और इस्तेमाल में अन्तर है। अन्तर यह है कि कविता में काव्य-भाषा सबसे अधिक कविता के प्रति उत्तरदायी होने की शर्त से चिपकी रहती है। यह उत्तरदायित्व विज्ञापनों की भाषा में नहीं होता। उसका उत्तरदायित्व अपने उत्पादकों और उत्पाद के प्रति होता है, और यह प्रायः बहुत खतरनाक स्तर पर काम करता है। जिसे हम कविता अथवा काव्य-भाषा के रूप में पहचानते आए हैं, वह सूचना संजालों से बने वर्चुवल रियलिटी से गुजरते हुए हम तक पहुँचती है और हमें बाज़ार माल के निकट पहुँचाने का काम करती है। वैश्विक बाज़ार के ऐश्वर्य तक पहुँचने का माध्यम किस तरह काव्य-भाषा बन रही है, इससे हम सब परिचित हैं। हम महसूस कर सकते हैं कि इससे टकराने की कितनी आवश्यकता है।

इससे बचने का अर्थ है, जिसे वास्तव में कविता कहते हैं और जो भाषा और जीवन में हमें ज्यादा से ज्यादा संवेदनशील और उत्तरदायी बनाती है, उसे आजायबघर का रास्ता दिखा देना।

बहुत आसानी से काव्य-भाषा को विज्ञापनों में ढाला जा सकता है, जबकि बहुत मुश्किल से कविता की भाषा तैयार होती है- या कहें मुश्किल से कविता को उसकी भाषा मिलती है। एक कवि हैं सत्येन्द्र कुमार रघुवंशी। नये नहीं हैं, थोड़ा अपरिचित हैं। उनकी कविता की पंक्तियाँ हैं:

जितने शब्दों से

अनलिखी है हमारी कविता

उतने शब्द

हर दिन इस्तेमाल करते हो तुम

एक नया झूठ गढ़ने में! (वागर्थ, फरवरी-२०१४)

यहाँ 'नया झूठ' को वर्चुवल रियलिटी से जोड़कर देख सकते हैं। शब्द के पीछे बोध छुपा होता है जो किसी एक संदर्भ और परिस्थिति में नहीं फँसा होता, उसे अपने सन्दर्भ में लाकर समझने की आवश्यकता होती है।

विज्ञापन काव्य-भाषा का इस्तेमाल ऐसे माल के रूप में करते हैं, जिसमें किसी सटीक बिन्दु पर कोई बिकाऊ माल दर्ज हो जाए, जैसे 'कुछ मीठा हो जाए' पद में कैडबरी चाकलेट। खरीदने भर का झंझट है, बाकी कोई दुबिधा-संशय नहीं। इसके विपरीत कविता में शब्द के प्रति घोर संशय की मनःस्थिति काम करती है। यह संशय ही कविता को कविता बनाती है। अज्ञेय की कविता 'शब्द और सत्य' को याद करें। कवि शब्द और सत्य को मिला देना चाहता है। संध लगाकर या विस्फोट पैदा कर दोनों के बीच के तनाव को समाप्त करना चाहता है, दोनों में अनुरूपता पैदा करना चाहता है। क्या इसलिए कि वास्तव में दोनों- शब्द और सत्य-अलग-अलग हैं। शब्द और सत्य (अनुभव अथवा यथार्थ) का संबंध एक दार्शनिक मामला है। वह अलग है। यहाँ-इस कविता में-वह आधुनिक मनुष्य है जो भेद और टकराव को देख रहा है, और इसी रूप में अपने काव्य-कर्म के समक्ष उत्पन्न चुनौती का सामना कर रहा है। शब्द और सत्य की एकता के प्रति संशयग्रस्तता और उनकी अनुरूपता के लिए संघर्ष-यह सृजन का एक बड़ा विषय है, जिससे हर अच्छे कवि को रुबरु होना होता है। मीठा

जहर के विज्ञापन- 'कुछ मीठा हो जाए' की ढिठाई के जमाने में चुनौती बढ़ गई है। शब्द-प्रयोग कठिन हो गया है। भावों की अभिव्यक्ति कठिन हो गई है।

पंकज चतुर्वेदी की कविता है-प्रिय कहना :

प्रिय कहना कितना कठिन था

तुम्हें चाह सकूँ

चाहने में कोई अड़चन न हो

और तुम भी उसे समझ सको

शब्द का

तभी कोई मतलब था

प्रिय कहना

कितना कठिन था

(पूर्वग्रह, जुलाई-दिसम्बर २०१३, पृ-१२४)

शब्द का कोई मतलब हो- यह एक बड़ी चुनौती है। जिस तरह से आज कविता की भाषा बाजार के ऐश्वर्य का माध्यम बन रही है, वहाँ एक आपातकाल का संकेत है। काव्य-भाषा का काम विचार और भावना को फलित करना है, एक सत्य तक पहुँचना है, उससे अनुरूपता हासिल करना है। उसका बाजार उपयोग उसकी इस शक्ति को छीनता है।

आज की कविता में विचार और प्रतिरोध के कई छोर हैं। भाषा के भी कई छोर हैं। यह हिंदी भाषा के ऐतिहासिक विकास के कारण हैं और वर्तमान की जो बनावट है, उसके भी कारण। कोई कवि जिस तरह की भाषा लिख रहा होता है उसमें दोनों बातें-भाषा का ऐतिहासिक व्यवहार और कवि के स्वयं का आधार दोनों बातें शामिल होती हैं। भाषा ऐतिहासिक व्यवहार है, यानी कवि सामान्यतया उसी सामग्री का इस्तेमाल करता है-प्रतीक, मिथक, संकेत आदि-जो उसे लगभग बने-बनाये मिलते हैं। कवि का काम उन्हें अपनी जरूरतों के अनुरूप करने का होता है। कवि के स्वयं का आधार क्या है-यानी उसकी चेतना का धरातल क्या है, इससे भी उसकी भाषा निश्चित होती है। असली बात है कि कवि जिस काव्य-सामग्री का इस्तेमाल करता है वह पहले से मौजूद होता है, पहले से भाषा-व्यवहार की प्रणाली मौजूद होती है, किन्तु उसके इस्तेमाल का तरीका और उपस्थित सन्दर्भ उसकी भाषा को 'समकालिकता' प्रदान करता है-उसे 'वैयक्तिक' (पैरोल)

विमर्श

बनाता है। भाषा के ऐतिहासिक आधार और उसके समकालिक-वैयक्तिक व्यवहार, दोनों को समझने की जरूरत है।

भाषा एक लचीली संस्था है। उसमें कैसे नई बात पैदा की जा सकती है, इसकी समझ आज के कवियों में पर्याप्त है। बद्री नारायण की एक कविता है- 'प्रस्ताव' :

**भय दिखाकर जितना कमाया जा सकता है
उतना ही प्रेम दिखाकर
इसलिए प्रेम और भय विरोधी भाव नहीं रह गए हैं
स्वर्ग से आने वाली पहली डाक से ही
पाणिनि ने भेजा है प्रस्ताव
कि पहले से चले आ रहे व्याकरण में
कुछ सुधार आवश्यक हैं**

(शब्द पदीयम, पृ. ४३)

व्याकरण और काव्य शास्त्र की प्रचलित अवधारणाओं को छेड़कर विलक्षण समकालिकता पैदा की गई। कई संदर्भ हो सकते हैं, जिसमें इस कविता का अर्थ खुल सकता है। बहरहाल।

अब हम आधुनिक हिंदी और आज की कविता की भाषा पर विचार करें। हिंदी के साथ उर्दू की तरह पहले कविता और बाद में गद्य वाली बात नहीं है। हिंदी पहले गद्य आया है और उसके आधार पर कविता की भाषा तैयार हुई है। लिखने-पढ़ने की गद्य भाषा को आधार बना कर आधुनिक हिंदी कविता आगे बढ़ी। छायावाद में आकर उसमें लालित्य अवश्य पैदा हुआ, लेकिन उसका संबंध बोलचाल की भाषा से नहीं था। प्रगतिवाद और नई कविता में बोलचाल वाली बात दिखाई पड़ने लगी। असल में बोलचाल की भाषा का समुदाय ही कायदे से इसी दौर में विकसित हुआ। आज की कविता में बोलचाल वाला रूप निखरा है। अनेक कवि कस्बों और छोटे शहरों से उभरे हैं। उनकी लोकभाषीय पृष्ठभूमि है। इसलिए उनकी भाषा में लोक शब्दावलियों के भी सर्जनात्मक प्रयोग देखने को मिलते हैं। कविता में बातचीत का देसी अन्दाज देखा जा सकता है। यह सब है, लेकिन लिखित गद्य के तरीके से भी पीछा नहीं छूटा है। जटिल अनुभवों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह आवश्यक है। बहरहाल, आज की कविता की भाषा बोलचाल की है, इसमें पर्याप्त लोकतत्त्व है और लिखने-पढ़ने के गद्य का भी इस पर असर है। भाषा-प्रकारों की

बहुलता वर्तमान कविता की शक्ति है।

आज की कविता में बातचीत का शिल्प प्रमुख है। बहुत-सी कविताएँ लिखी ही गई हैं बातचीत के रूप में। बातचीत-किसी औरत से, किसी बच्चे से, किसान या कारीगर से, और नहीं तो स्वयं से। स्वयं से बातचीत का मजा कविता का अपना गुण है, आत्मनिष्ठता के दायरे में रखकर जिसका मूल्य कम नहीं किया जा सकता। कुमार अम्बुज की खुद से बातचीत का एक टुकड़ा है:-

**मेरे पास जीवन एक ही था और वह भी गलतियों
चूकों और नाकामियों से भरा
लेकिन उसी जीवन में भीतर से
आती थीं कुछ करते रहने की आवाजें भी**

**कितना काम करना था कह नहीं सकता कितना कर पाया
इतना तो जरूर हुआ कि मैं अपनी गलतियों से भी पहचान में आया।**

(अमीरी रेखा, पृ. १०)

इसमें जितनी आत्मनिष्ठता है वहीं उसे तोड़ने की तत्परता भी है। अधिक शब्द खरचने की प्रवृत्ति नहीं है। यानी खुद से बतियाने में जो बड़बड़पन होता है, वह नहीं है। 'व्यापक' से सहज सम्पर्क-सूत्र भी दिखाई पड़ता है। यह अकेले इस कविता में या अम्बुज की कविता में नहीं है, आज के कई कवियों की कई-कई कविताओं में यही बात दिखाई पड़ती है।

९० के दशक से कई नए परिवर्तन हुए, जिसके पीछे सामाजवादी सत्ता का चूर हो जाने को मुख्य रूप से देखा जाता है। समाजवादी सत्ता चूर हुई उसमें केवल उसकी आर्थिक नाकामियों का हाथ नहीं था। बड़ा कारण था कठोर और संकीर्ण प्रतिमानों के अनुकूल जीवन को कठिन बनाया जाना। परिवर्तन के सिद्धान्त का सहारा लेकर अपरिवर्तनीय वर्तमान गढ़ने का प्रयास किया गया। यह कार्यवाही जिस चीज पर सबसे अधिक आघात करती है वह है 'लय'। लय कविता या भाषा की जरूरत नहीं है, समाज की भी जरूरत है। समाज में जो लय टूट गई होती है, उसकी क्षतिपूर्ति कविता करती है। मायकोव्स्की की कविता इसका उदाहरण है। जूलिया क्रिस्तीवा ने सही संकेत किया है कि मायकोव्स्की के काव्य-शिल्प में 'लयात्मक आनन्दातिरेक' और 'अहं' की सहधर्मी अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है। यह बात वर्तमान की स्थिरता के

विमर्श

विरुद्ध एक सार्थक हस्तक्षेप के रूप में दिखाई पड़ती है। आज क्या हुआ है? वैश्वीकरण और बाजारवाद ने समाज की लय को गड़बड़ा दिया है। एक बेतुकी दौड़ दिखाई पड़ रही है—बेतुकी और लक्ष्यहीन। यह कविता के समक्ष चुनौती है। आज का कवि इस दृष्टि से सजग है। इस सन्दर्भ में यहाँ देवीप्रसाद मिश्र की कविता 'निजामुद्दीन' उल्लेखनीय है।

'निजामुद्दीन' लम्बी कविता है। उसकी भाषा भी बहुस्तरीय है। गद्य, पद्य, कव्वाली, तुकबन्दी सब है। मार्क्सवाद से पिण्ड छुड़ाने का जमाना औपनिवेशिक सोच के विस्तार का युग, एक क्रिस्म की तंगी और बदहाली का वातावरण—यह सब है। उसी में कवि की यह मनौती :

कि मेरा राजनीतिक एकांत आन्दोलन में बदल जाए।
मेरा दुःख अम्बानी की विपत्ति में
मुंतजर अल जैदीको अपना दूसरा जूता मिल जाए।
बुश के घर की छत उड़ जाए।
वित्त मंत्री एक भूखे आदमी का
वृत्तांत बताते हुए रोने लग जाय
मेरा बेटा घड़ा बनाना सीख जाए।
एक कवि का अकेलापन हिंदी की शर्म में बदल जाए।
घर लौटा जाय
और घर छोड़ा जाय
जिसके लिए मैंने मनौती माँगी है कि
वह आदिवास में बदल जाए और मेरा बेटा
संथालों के मेले में खो जाए।

(तद्भव, अंक-२०, जुलाई-२००९ पृ. १०८-९)

प्रत्येक पंक्ति लय से नियंत्रित होती है। काव्य-भाषा अकेली ही विपदा और अनियंत्रण के विरुद्ध संघर्ष करती है, उसे धकेलती है, और उस युग का आह्वान करती है जिसमें अर्थ (इकॉनामी) की सत्ता के नियंत्रण से मुक्ति के संकेत हैं। कविता में लय को प्रभावी तत्व के रूप में बदल कर वह

अनुभूति प्राप्त की जा सकती है जो अपनी प्रतिरोधधर्मिता में विकल्प की चेतना से आविष्ट होती है। लय से शब्द अनुभूत होता है और शब्द अनुभूति की तरह प्रतीत होता है, और इसी बात में, हमारी समझ से, शब्द और सत्य की एकता फलित होती है।

असली बात है शब्द और सत्य की एकता कवि के हठ में निहित है। दूसरे शब्दों में 'अहं' में निहित है, जिसे मायकोव्स्की के सन्दर्भ में जूलिया क्रिस्तीवा ने इंगित किया है। अहं अभिव्यक्ति को सर्वोच्च बिन्दु पर पहुंचाने के लिए संघर्ष करता है, और उस स्तर पर जाकर भविष्य और असम्भव अर्थ का साक्षात्कार होता है। शब्द शब्द के रूप में अनुभूत होता है और शब्द सत्य अथवा संसार के रूप में भी। इस प्रकार की कविता के उदाहरण थोड़े होते हैं। मैं यह भी नहीं कहता कि देवी प्रसाद मिश्र की कविता उन्हीं में से एक है, लेकिन उसमें इसके संकेत हैं।

यह अच्छी बात है कि आज की कविता में सार्थक भाषा अर्जित करने की जिद के उदाहरण मौजूद हैं। कभी रघुवीर सहाय ने एक ऐसी भाषा पाने की बात की थी जिसके दो अर्थ नहीं हों। काव्यशास्त्र की दृष्टि से यह गलत है। पूरा ध्वनि सिद्धान्त ही इससे झूठा हो जाएगा। लेकिन दो अर्थ फलता-फूलता है। आज के कवि की लड़ाई इस बात से भी है। संजय चतुर्वेदी की कविता है 'अगली भाषाओं की तलाश में'। उस कविता के आधार में रघुवीर सहाय की ही कविता है, लेकिन बात बहुत जमने वाली कही गई है:

बढ़ जाए इतनी रोशनी
एक शब्द का हो एक ही अर्थ
दोहरा होना रह जाए पिछड़ेपन की निशानी
आज जहाँ है, वहाँ बस जाएँ बस्तियाँ
और वह निकल जाए अगली भाषाओं की तलाश में।

(प्रकाशवर्ष, पृ. ४८)

संपर्क : ६५, शुभालय विला, पिपलानी, भोपाल-४६२०२२, मो. ९४०६५४२८६६

विश्वास और स्वप्न भंग : डिप्टी कलकटरी

रविभूषण

अमरकान्त (१ जुलाई १९२५-१७ फरवरी २०१४) के नाम का शोर 'नयी कहानी' के दौर में कहीं नहीं था 'डिप्टी कलकटरी' कहानी 'कहानी' पत्रिका द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिंदी कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत होकर १९५६ के 'कहानी' विशेषांक में प्रकाशित हुई थी, इसके पहले 'दोपहर का भोजन' जनवरी १९५६ के कहानी विशेषांक में छप चुकी थी। बलिया में 'कहानी' पत्रिका में अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता का विज्ञापन पढ़कर अमरकान्त ने 'जिन्दगी और जोंक' के साथ 'डिप्टी कलकटरी' कहानी लिखी थी। मित्रों के बीच दोनों कहानियाँ सुनाने के बाद 'डिप्टी कलकटरी' कहानी को प्रतियोगिता में भेजने का निर्णय लिया गया था। इन कहानियों के पहले अमरकान्त की कई कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। नामवर सिंह ने अपने पहले लेख आज की हिंदी कहानी (नव वर्षाक कहानी १९५७) में जिन छह नये कहानीकारों-मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय, केशव मिश्र और शिवप्रसाद सिंह का उल्लेख किया था, उनमें अमरकान्त नहीं थे, जबकि उनकी तीन प्रमुख कहानियाँ- 'दोपहर का भोजन', 'जिन्दगी और जोंक' एवं 'डिप्टी कलकटरी' प्रकाशित हो चुकी थी।

क्या 'इण्टरव्यू' (१९५१) और 'डिप्टी कलकटरी' (१९५६) दोनों कहानियों पर एक साथ विचार की जरूरत नहीं है। १९५१ में आगरा में प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक में अमरकान्त ने 'इण्टरव्यू' कहानी का पाठ किया था जो १९५३ में 'कल्पना' में प्रकाशित हुई। 'इण्टरव्यू' कहानी सामान्य नौकरी के लिए इण्टरव्यू को लेकर लिखी गयी कहानी है और 'डिप्टी कलकटरी' में एक अफसर की नौकरी के इण्टरव्यू में साठ रुपये के क्लर्क की नौकरी के लिए तीन-साढ़े तीन सौ लोगों का इण्टरव्यू है।

नयी कहानी पर विचार करते हुए पचास के दशक पर ध्यान देना आवश्यक है। 'उम्मीद यह थी कि आजादी मिलने पर करोड़ों लोगों के भाग्य में परिवर्तन होगा और देश को पुराना वैभव प्राप्त होगा..... लेकिन आजादी के बाद राजनीति पीछे मुड़ कर उलटी चाल से संकीर्ण, स्वार्थ और अवसरवाद के रास्ते पर तेजी से भागने लगी।' (मेरा लेखन : मेरा परिवार, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, १९९७) पचास के दशक में निम्न मध्यवर्ग में जीवन जीने की एक बेहतर आकांक्षा सरकारी नौकरी से जुड़ी थी। प्रशासकीय पद प्राप्त करना एक स्वप्न था। इसमें वर्तमान उज्ज्वल भविष्य सुरक्षित था 'डिप्टी कलकटरी' शकलदीप नारायण और समूचे परिवार का स्वप्न है। कलकटरी ध्वनि से इस पद-

विशेष के प्रति कहानीकार की दृष्टि भी ध्वनित होती है। दो बार 'डिप्टी कलकटरी' के इम्तहान में शकलदीप बाबू का बड़ा बेटा नारायण सफल नहीं हो पाता। तीसरी बार अंतिम बारी है। पहले की तुलना में इस साल डिप्टी कलकटरी की बहुत-सी जगहें हैं पर नारायण पिता को कहते डरता है पिता इम्तहान में शकलदीप बाबू पेशे से मुख्तार हैं, उनके लिए घर चलाना कठिन है। परिवार में पत्नी जमुना, चौबीस वर्षीय बड़ा बेटा नारायण, बहू निर्मला (नारायण की पत्नी) और छोटा बेटा बारह वर्ष का टुनटुन है। पाँच व्यक्तियों का यह एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार है। परिवार का सारा बोझ शकलदीप बाबू पर है, उम्र बढ़ चुकी है और मुख्तारी अधिक नहीं चलती। 'डेढ़-दो साल से मुख्तारी की गाड़ी उनके चलाये न चलती थी।' बुढ़ाई के कारण अब उनकी आवाज में न वह तड़प रह गयी थी, न शरीर में वह ताकत और न चाल में वह अकड़ इसलिए मुक्किल उनके यहाँ कम ही पहुँचते। कुछ तो आकर भी भड़क जाते। इस हालत में वह राम का नाम लेकर कचहरी जाते, अक्सर कुछ पा जाते, जिससे दोनों जून चौका चूल्हा जल जाता। अधिक अभाव के कारण ही उनमें खीझ, चिड़चिड़ापन और क्रोध है 'स्वाभाविक क्रोध' कहानी के आरंभ में बेटे पर उनका क्रोध सहज है, स्वाभाविक है।

नारायण बाबू की उम्र पचास वर्ष है। वह गोरे, नाटे और दुबले-पतले थे। उनके मुख पर अनगिनत रेखाओं का जाल बुना था और उनकी बाहों तथा गर्दन पर चमड़े झूल रहे थे। आलोचकों ने कहानी में पति-पत्नी (शकलदीप बाबू और जमुना) संवाद और उनके बीच के सहज, आत्मीय सहनिर्भर संबंध पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। पत्नी बेटे नारायण के तीसरी बार डिप्टी कलकटरी की परीक्षा में बैठने के संबंध में पति शकलदीप बाबू से कहती है। शकलदीप बाबू का उत्तर है "साफ-साफ सुन लो मैं तीन बार कहता हूँ, मुझसे नहीं होगा, मुझसे नहीं होगा, मुझसे नहीं होगा।" इस कथन के पीछे अर्थाभाव है। 'डिप्टी कलकटरी' कहानी में कई वाक्य वाक्यांश कई बार प्रयुक्त होते हैं। यह महज भाषा-सौन्दर्य नहीं है। अमरकान्त की कथा-भाषा पर गंभीर विचार अभी शेष है। शकलदीप बाबू को 'डिप्टी कलकटरी' से घृणा है। यह घृणा कहानी के आरंभ में है- 'डिप्टी कलकटरी, डिप्टी कलकटरी!

सच पूछो तो डिप्टी कलकटरी नाम से मुझे घृणा हो गयी है।' इस 'घृणा' का कारण क्या है? क्या मात्र यह कि बेटा दो बार इस परीक्षा में असफल हो चुका है या और कुछ? इससे कुछ अधिक वारेन हेस्टिंग्स (६ दिसम्बर १७३२-२२ दिसम्बर १८१८) की गवर्नर के पद पर भारत में नियुक्ति १७७२ ई. में हुई थी। भारत में जिला प्रशासन ब्रिटिश राज की देन है। १७७२ में ही हेस्टिंग्स ने डिस्ट्रिक्ट कलकटर के कार्यालय की स्थापना की एल.एस.एस.ओ. मैले (सेवा निवृत्त, इंडियन, सिविल सर्विस) ने अपनी पुस्तक 'द इंडियन सिविल सर्विस' १६०१-१९३० (१९३१) के दूसरे अध्याय क्रिएशन ऑफ ए सिविल सर्विस। १७७२-९३' में इस पर विस्तार से विचार किया है। गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, १९३५ के तहत पहली बार लोक सेवा आयोग के गठन का प्रबन्ध किया गया। प्रान्तीय स्तर पर यह आयोग गठित हुआ और उत्तर प्रदेश लोकसेवा आयोग की स्थापना १ अप्रैल १९३७ को हुई। कलकटर और डिप्टी कलकटर अंग्रेजों की प्रशासकीय देन है। अमरकान्त की डिप्टी कलकटरी से घृणा स्वाभाविक है। स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में जो चोला बदल रहे थे, अमरकान्त की उन पर निगाह थी। जातिवाद, क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद के नृत्य के साथ काला बाजार, भ्रष्टाचार, गुटबाजी परमिट परस्ती, धक्का धक्की कम नहीं थी। (आत्मकथ्य) इसका डिप्टी कलकटरी से क्या कोई संबंध नहीं था। अमरकान्त को प्रेमचंद की परम्परा में रखनेवाले कथालोचक इस पक्ष पर कम ध्यान देते हैं कि प्रेमचन्द ब्रिटिश शासन के खिलाफ थे। स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन का ब्रिटिश ढाँचा नहीं बदला। वह पूर्ववत् बना रहा।

बेटे को लेकर कहानी के आरंभ में पति-पत्नी के बीच कहासुनी होती है। यह झड़प कुछ ही समय की है-आरंभ में बेटे के प्रति मां का प्रेम है और बाद में पिता का प्रेम। पत्नी की बात का जवाब शकलदीप बाबू केवल भाषा से नहीं देते। वे सिर को झटकते हुए कटाह कुकुर की तरह दाएं हाथ को ऊपर-नीचे नचाते पत्नी से बोलते हैं। अमरकान्त के पात्रों की देह-भाषा कम महत्वपूर्ण नहीं है। पत्नी पर निर्दयतापूर्वक जबरदस्त आरोप लगाने वाले शकलदीप बाबू तुरंत उसके प्रति मुलायम हो जाते हैं। वे डिप्टी कलकटरी की परीक्षा के

लिए पैसे का प्रबंध करते हैं। इसके बाद उनमें परिवर्तन घटित होता है। यह परिवर्तन कर्ज ही सही, रुपये से जुड़ा है। बेटे को कोसने वाले शकलदीप बाबू पत्नी से कहते हैं—“होंगे, जरूर होंगे बबुआ डिप्टी कलक्टर अवश्य होंगे। कोई कारण ही नहीं कि वह न लिए जाएं। लड़के के जेहन में कोई खराबी थोड़े है... नारायण जी इस बार भगवान की कृपा है। साधारण कथन में कहानीकार का मारक व्यंग्य अद्भुत है। उसे श्रम में आस्था नहीं है और भगवत कृपा में जो विश्वास है वह कहानी के अंत में खंडित हो जाता है। बेटे और पत्नी को दोषी मानने वाले शकलदीप बाबू पत्नी को कर्ज से लिए रुपये देने के बाद अपने को दोषी मानते हैं ‘सारा तो मेरा है, देखो न, मैं बाप होकर कहता हूं कि लड़का नाकाबिल है, नहीं नहीं सारी खुराफत की जड़ मैं ही हूं, और कोई नहीं।’

स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में बेरोजगारी का जो प्रश्न था, आज वह कहीं अधिक है। बदहाल वर्तमान और असुरक्षित भविष्य केवल शकलदीप बाबू का नहीं है। बल्कि निम्न मध्य वर्ग का है, इस प्रकार ‘डिप्टी कलक्टर’ कहानी एक पात्र-कथा और एक परिवार-कथा न रहकर व्यापक अर्थों में समय कथा, वर्ग कथा और देश कथा भी बन जाती है। डेढ़ सौ रुपये कर्ज लेने के बाद परीक्षा की फीस भरी जाती है। बेटे को पढ़ते देखकर पिता में उत्साह-भाव आ जाता है— ‘अवर्णनीय उत्साह उनका सारा ध्यान नारायण पर केन्द्रित हो जाता है। वे बदल जाते हैं। सबरे उठ कर स्नान करते हैं शरीर में एक अपूर्व ताजगी तथा मन में एक अवर्णनीय उत्साह आ जाता है। बेटे को लालटेन के सामने सिर झुकाये ध्यानपूर्वक पढ़ते देखकर प्रसन्नता स्वाभाविक है। उनका आसमान को उत्सुकतापूर्वक निहारना भविष्य को देखना है। कहानी में यथार्थ और स्वप्न दोनों हैं। वे और रुपयों की व्यवस्था करते हैं। पत्नी से बबुआ को नास्ते में हलवा बनाने, मेवे मंगाने को कहते हैं। पहले वे नारायण के धूमपान के सख्त खिलाफ थे, कई बार बेटे को डाँट-डपट चुके थे और अब उसके लिए सिगरेट के पाँच पैकेट पत्नी को देते हैं। बेटे के कमरे को स्वयं झाड़ना-बुहारना उसकी मेज साफ करना, बिछावन बिछाना उसे किसी प्रकार की बाधा न पहुंचे, इसका सदैव ख्याल रखना, स्वेच्छा से बाहर पीपल के

पेड़ के नीचे मेज-कुर्सी लगाकर बैठना, बेटे के लिए मेवे लाना, ये सारे कार्य शकलदीप बाबू स्वेच्छा से करते हैं, उनका हाव-भाव बदल जाता है, बेमतलब ठुनक कर हँसते हुए, पत्नी से बोलते हैं और पत्नी सोचती है ‘बुद्धि सठिया गयी है, कहानी के केन्द्र में शकलदीप बाबू है। ईश्वर पर उनके विश्वास के कई उदाहरण और प्रसंग कहानी में हैं। अमरकान्त उनकी मनोदशा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं, यह मनोदशा आर्थिक दशा से जुड़ी हुई है। वे नियमित रूप से मंदिर जाते हैं, घर में चुपचाप रामायण का पाठ करते हैं, इलाहाबाद के एक साधु से वे गुरुमुख हो गये हैं, पत्नी राधास्वामी की दीक्षा ले चुकी हैं। राधा स्वामीवादियों पर बिगड़ने और उनकी आलोचना करने वाले शकलदीप बाबू पत्नी से अपनी गलती स्वीकारते हैं—“ मैं बड़ी गलती पर था, राधास्वामी तो बड़े प्रभावशाली देवता हैं” उन्हें विश्वास है ‘सच्चे मन से राधास्वामी की पूजा करने से सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं’ पिता की आस्था ईश्वर में है, भगवतकृपा पर है। बेटे में ऐसी कोई आस्था नहीं है। नारायण ने इतना अधिक परिश्रम किया कि सभी आश्चर्यचकित थे। वह अठारह-उन्नीस घंटे तक पढ़ता... दोनों जून गाँव के शुद्ध घी के साथ दाल-भात रोटी, तरकारी मिलती है शरीर की शक्ति तथा दिमाग की ताजगी को बनाये रखने के लिए नाश्ते में सबरे हलवा-दूध तथा शाम को मेवा या फल और तो और, लड़के की तबीयत न उचटे, इसलिए, सिगरेट की भी समुचित व्यवस्था थी जब सिगरेट के पैकेट खत्म होते, तो जमुना उसके पास चार-पाँच पैकेट और रख आती। मां-पिता ने बेटे को एकाग्रचित होकर पढ़ने के लिए अपनी हैसियत से कही अधिक किया। बेटे के भविष्य से पूरे परिवार का भविष्य जुड़ा है। बारह वर्ष के छोटे बेटे टुनटुन के मेवे खा लेने के बाद शकलदीप बाबू का क्रोध इन पंक्तियों में देखा जा सकता है “खा गया, खा गया। तुम क्यों न खा गयी। तुम लोगों के खाने के लिए ही लाता हूँ।” डिप्टी कलक्टर की लिखित परीक्षा में नारायण सफल होता है। अब इण्टरव्यू की बारी है। नये कहानीकारों में अमरकान्त संभवतः अकेले कहानीकार है जिन्होंने पचास के दशक में बेरोजगारी पर दो प्रमुख कहानियां लिखी और इण्टरव्यू की पोल खोली। डिप्टी कलक्टर के इण्टरव्यू के लिए नारायण को बुलावा आता है।

इण्टरव्यू की इस सूचना से नारायण बाबू आंगन में खड़े होकर ठठाकर हँसते हैं पत्नी से कहते हैं- “अब करो न राज। हमेशा शोर मचाए रहती थी कि यह नहीं है, वह नहीं है।”

डिप्टी कलकटरी एक पद है, समाज में इस पद का सम्मान है। इस पद से सामाजिक प्रतिष्ठा जुड़ी है क्योंकि अफसर होने के बाद गाड़ी और बंगला है, नौकर चाकर और ढेर सारी सुविधा हैं, सामाजिक रुतबा है, रोब दाब है। स्वतंत्र भारत में इसकी कम पूछ नहीं है कुछ अधिक ही है। शकलदीप बाबू कहीं अधिक आशान्वित हैं- “बबूआ जरूर आएंगे, जरूर आएंगे, नहीं आये तो मैं अपनी मूँछ मुड़वा दूंगा।” इण्टरव्यू के लिए बुलावा साधारण बात नहीं है। सफलता बहुत कम दूरी पर है। इण्टरव्यू देने जाते समय बेटे को प्रसाद देने के लिए नारायण बाबू प्लेट फॉर्म पर दौड़ते हैं, बेटे को आशीर्वाद देते हैं “भगवान तुम्हारी मनोकामना पूरी करें।” यह मनोकामना केवल बेटे की नहीं, माँ-पिता और पूरे परिवार की है। पिता पुत्र को थड़िया में शंकर का प्रसाद देते हैं। यह शिव पर चढ़ाया हुआ प्रसाद है। बेटे के मित्र झूठ बोलते हैं। प्रसाद देने की बात न कहकर रुपये देने की बात करते हैं। इण्टरव्यू के लिए नारायण का बुलावा एक असामान्य घटना है। स्वप्न के साकार होने की पूरी संभावना है। कहानी में कई बार ‘स्वप्न’ प्रसंग है। स्वप्न शकलदीप बाबू उनकी पत्नी जमुना, पुत्रवधू निर्मला सब देखते हैं। आंगन में खड़े होकर आकाश को निहारना भविष्य और स्वप्न को देखना है। बबूआ डिप्टी कलकटर हो गये हैं, उनकी दृष्टि से सत्य के करीब है। पत्नी से पूछते हैं-सबेरे का सपना तो एकदम सच्चा होता है न।

डिप्टी कलकटरी कहानी विश्वास और स्वप्न के खंडित होने की कहानी है। इस कहानी में आलोचकों ने नारायण की पत्नी निर्मला पर ध्यान नहीं दिया है। जिसका जिक्र कहानी में दो स्थलों पर है। वह कहानी में उपस्थित है और आलोचना में अनुपस्थित। नारायण की मां ने बहू के लड़का होने का सपना देखा था और लड़का ही हुआ। जब पहला स्वप्न सही हुआ तो दूसरा डिप्टी कलकटरी का स्वप्न सही कैसे नहीं होगा। यहां स्वप्न को जिस तर्क से पुष्ट किया गया है, वह तर्क नहीं है कहानी में लड़का कही भी उपस्थित नहीं है, क्या नवजात शिशु और आजादी के बाद के नये भारत के बीच कोई संबंध

स्थापित नहीं हो सकता। बहू जिज्ञासा करती है- ‘अम्मा जी सबेरे का सपना तो एकदम सच्चा होता है न। जमुना मुस्करा कर बताती है, सच्चा होता ही है। पति, पत्नी, बहू सब स्वप्न को सच समझने में एक साथ है। कहानी में कहीं भी नारायण स्वप्न नहीं देखता पारिवारिक सदस्य स्वप्न देखते हैं और उसे सच समझने में लगे हैं यह एक पारिवारिक स्वप्न है। शकलदीप बाबू दूसरे दिन भी वैसे ही स्वप्न देखते हैं-पत्नी जमुना को सबेरे के सपने में विश्वास है-’ जब बहू को लड़का होने वाला था मैंने सबेरे-सबेरे सपना देखा कि कोई सरग की देवी हाथ में बालक लिये आसमान से आंगन में उतर रही है, बस मैंने समझ लिया कि लड़का ही है, लड़का ही निकला। शकलदीप बाबू स्वप्न को सच साबित करने को तुले है- मान लो कि झूठ है, तो यह सपना एक दिन दिखाई पड़ता, दूसरे दिन भी वही सपना क्यों दिखायी देता, फिर वह भी ब्रह्म मुहूर्त में ही। बहू बगले में रहने से स्वप्न देखती है। स्वप्न और यथार्थ में अंतर है। डिप्टी कलकटरी का यथार्थ स्वप्न को खंडित करता है। स्वतंत्र भारत का राष्ट्रीय स्वाधीनता अंदोलन में जो स्वप्न देखा गया था, क्या वह साकार हुआ? डिप्टी कलकटरी कहानी में हम परिवार के स्वप्न के साथ राष्ट्रीय स्वप्न को भी खंडित होते देख सकते हैं कहानी में ऐसा संकेत नहीं है, पर यह किसी भी सजग पाठक को प्रतीत हो सकता है। आज इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में इस कहानी के पाठ से ऐसी गूँजें हम सुन सकते हैं।

डिप्टी कलकटरी कहानी यथार्थ की कठोर चट्टान पर खड़ी है, जिसमें स्वप्न दिवास्वप्न खंडित होता है। शकलदीप बाबू का सारा उत्साह बाद में ठंडा पड़ जाता है, उम्मीद पर पानी फिर जाता है, तरंग में आकर वे बहू को डिप्टाइन कहते हैं, मुख्तरी छोड़ने की सोचते हैं। अपने मुख्तार साथी कैलाशबिहार से कहते हैं इसके बेटे कर्म में राजा होना लिखा है.... आजकल राजा का अर्थ क्या है। डिप्टी कलकटर तो एक अर्थ में राजा ही हुआ। वे निश्चिन्त है क्योंकि बेटे का इण्टरव्यू सबसे अधिक समय का हुआ-जहां और लड़कों का पन्द्रह-बीस मिनट तक ही इण्टरव्यू हुआ। उसका पूरे पचास मिनट तक इण्टरव्यू होता रहा। नारायण के संगी-साथी कमल गौरी को नये जमाने के स्वतंत्र भारत में विश्वास है-पहले का जमाना

अंग्रेजों का होता तो कहा भी नहीं जा सकता, लेकिन अब तो बेईमानी बेईमानी उतनी नहीं होती होगी।' गौरी कहती है- 'वह जमाना अब लद गया। कहानी का यह स्थल बेहद महत्वपूर्ण है। इसे रेखांकित किया जाना चाहिए क्योंकि इसमें पर तंत्र भारत से स्वतंत्र भारत में अंतर दिखाया गया है-इण्टरव्यू के ही प्रसंग में सही कहती पारिवारिक सदस्यों का केवल स्वप्न ही खंडित नहीं होता, युवा पीढ़ी का अनुमान और विश्वास भी खंडित होता है। नारायण ने घर आकर अपने इण्टरव्यू के बारे में सब कुछ बताया था। "उसने सभी प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर दिये थे। पिता शकलदीप बाबू के विश्वास इण्टरव्यू लेने वालों पर है। अगर नहीं लेना होता, तो पचास मिनट तक तंग करने की क्या जरूरत थी। पांच-दस मिनट पूछताछ करके कहानी में इण्टरव्यू लेने वालों पर शक-सुबहा है। इण्टरव्यू कहानी में राशनिंग विभाग की क्लर्कों के लिए बेईमानी का जिफ्र है। सवाल यह है कि उस पद से कहीं अधिक ऊंचे पदके लिए क्या कोई बेईमानी नहीं हो सकती। इण्टरव्यू कहानी में सभी प्रत्याशियों का इण्टरव्यू नहीं लिया जाता। राशनिंग विभाग की क्लर्की के लिए बेईमानी का जिफ्र है। सवाल यह है कि उस पद से कहीं अधिक ऊंचे पद के लिए क्या कोई बेईमानी नहीं हो सकती? इण्टरव्यू कहानी में सभी प्रत्याशियों का इण्टरव्यू नहीं लिया जाता। राशनिंग अधिकारों बाहर आकर सूचित करता है-' हमने इस जगह के लिए एक योग्य व्यक्ति को चुन लिया है। इस हालत में अब और लोगों का इण्टरव्यू लेना संभव नहीं है। इस कहानी में अफसरों के घूस लेने की बात कही गयी है, राशनिंग डिपार्टमेंट को भ्रष्टाचार का अड्डा बताया गया है डिप्टी कलक्टर कहानी में इण्टरव्यू लेने वालों के बारे में कहानीकार ने कुछ भी नहीं कहा है। इण्टरव्यू की तुलना में डिप्टी कलक्टर कहानी कहानी कला की दृष्टि से कोसों आगे है। यह कहानी पढ़कर राजेन्द्र यादव ने अमरकान्त को पत्र लिखा था- अगर तुम गम्भीरतापूर्वक इस क्षेत्र में उतर आये तो हम सब तथा कथित कहानीकारों की कलमें छिनवा लें। कहानी में अफसरों के चयनकर्ताओं उनकी चयन-पद्धति, प्रकृति आदि का कोई उल्लेख नहीं है, केवल बेईमानी के उतनी न होने की बात कही गयी है, जो पहले होती थी, कहानी में बेईमानी के समाप्त होने की बात नहीं कही गयी है, केवल

बेईमानी की मात्रा का उल्लेख है- 'हां, अब उतनी नहीं होती। पहले बात दूसरी थी। वह जमाना अब लद गया' इण्टरव्यू का परिणाम यह बताता है कि वह जमाना लदा नहीं है बरकरार है। स्पष्ट है कि अमरकान्त पहले के जमाने से स्वतंत्र भारत में अधिक अंतर नहीं देखते, वे यह नहीं मानते कि व्यवस्था बदल गयी है और तंत्र पहले की तरह नहीं है। आलोचक उनकी कहानियों में वास्तविकता के विडम्बनात्मक पक्ष' पर विचार करते हैं, पर स्वतंत्र भारत के कायम भ्रष्ट ब्रिटिश तंत्र को नहीं देखते उनके पात्रों की मानसिक पारिवारिक स्थितियों को सामाजिक स्थितियों से अलग कर नहीं देखा जा सकता कहानी में जो प्रच्छन्न है, उसे उद्घाटित कर ही उनके कथा संसार और कथा-वैशिष्ट्य की सही पहचान संभव है।

डिप्टी कलक्टर की नतीजे में नारायण का नाम नीचे है। ऊपर उन लोगों के नाम हैं जिनके इण्टरव्यू कम समय में लिये गये थे। नारायण का इण्टरव्यू सबसे अधिक समय का था। सफल होने का विश्वास स्वाभाविक था। कहानी में यह विश्वास खंडित होता है। स्वप्न खंडित विश्वास खंडित फिर बच क्या जाता है। 'सारे घर में मुर्दनी छाई हुई थी। छोटे से आँगन में गन्दा पानी, मिट्टी, बाहर से उड़कर आये हुए सूखे पत्ते तथा गंदे कागज पड़े थे और नाबदान से दुर्गन्ध आ रही थी... कहीं कोई खर-पटर नहीं हो रही थी और मालूम होता था कि घर में कोई है ही नहीं। नारायण कमरे में गुमसुम बने पड़े हैं- 'न कुछ बोलते हैं और न कुछ सुनते हैं। शकलदीप बाबू यथार्थ पर आते हैं। उन्हें बेटे की चिन्ता है, उसके डिप्टी कलक्टर न बन पाने का दुख नहीं है। पत्नी से पूछते हैं कि उसने बेटे को फीस तथा खाना-पीने के लिए छह सौ रुपये कर्ज लिये जाने की बात तो नहीं कही है। उनका चेहरा पतला पड़ गया था, आँखें धँस गयी थी और मुख पर मुँछे झाड़ू की भाँति फरक रही थी। नारायण के कमरे में जरूर उसकी सांस को नियमित रूप से चलते देखकर पत्नी से गदगद स्वर में उनका यह कथन- 'बबुआ सो रहे हैं', में मात्र बेटे के प्रति स्नेह-भाव भर नहीं है, सांस का चलना प्रमुख है। असफल व्यक्ति का जीवित रहना प्रमुख है, जहाँ सफलता से अधिक जीवन मायने रखता है, बेटे नारायण की असफलता का उन्हें दुख नहीं है, दोपहर का भोजन में सबके लिए रोटियां नहीं है पर परिवार के सदस्यों

की किसी से कोई शिकायत नहीं है अमरकान्त परिवार के बचे रहने पर अधिक ध्यान देते हैं, उनके गद्य की शक्ति की तारीफ करने वाले आलोचक उनकी जीवन शक्ति पर कम ध्यान देते हैं।

डिप्टी कलकटरी कहानी में शकलदीप बाबू के चरित्र को जितनी बारीकी और सूक्ष्मता से कहानीकार ने पकड़ा है, वह दुर्लभ है, यह कहानी स्वतंत्र भारत में निम्न मध्यवर्गीय पात्रों, परिवारों के स्वप्न के खंडित होने की कहानी है, एक पिता और परिवार की कहानी होते हुए भी यह कहानी एक व्यापक अर्थ-संकेत प्रस्तुत करती है। कहानी में स्वप्न-प्रसंग कई स्थलों पर है। विजय मोहन सिंह ने लिखा है-‘उनकी कहानियाँ नयी हिंदी समीक्षा के लिए एक नया मानदण्ड बनाने की मांग करती है, जैसी मांग कभी मुक्तिबोध की कविताओं ने की थी। यह नया मानदण्ड अभी तक नहीं बना है। पचास के दशक में ही मुक्तिबोध की कविताओं ने की थी। यह नया मानदण्ड अभी तक नहीं बना है। पचास के दशक में ही मुक्तिबोध ने ‘अंधेरे में’ कविता लिखना आरंभ किया था। अभी रमेश उपाध्याय ने मुक्तिबोध का मुक्तिकामी स्वप्नद्रष्टा पुस्तक (२०१७) लिखी है। क्या अमरकान्त के स्वप्न और मुक्तिबोध के स्वप्न को साथ रखकर व्यापक संदर्भ में स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों के रचनाकारों के प्रसंग पर विचार आवश्यक नहीं है, डिप्टी कलकटरी में नारायण बाबू और उनके पारिवारिक सदस्यों का स्वप्न कहानीकार का स्वप्न नहीं है, अमरकान्त इस स्वप्न (पद और पावर) के साथ नहीं है। अमरकान्त मध्यवर्ग को व्यक्तिगत पारिवारिक आकांक्षाओं में रखकर नहीं देखना चाहते। वे व्यक्ति और परिवार की आकांक्षाओं को सामाजिक आकांक्षाओं से पृथक कर देखने के लिए पक्ष में नहीं है। इस व्यवस्था में शकलदीप बाबू का वर्तमान और नारायण का भविष्य अंधकारमय है। शकलदीप बाबू को बदहवासी में एक बजे रात को भूख लगती है। विश्वनाथ त्रिपाठी का प्रश्न है- डिप्टी कलकटरी के नतीजे और भूख में कौन रिश्ता है। उनका उत्तर है-‘यह रिश्ता बदहवासी, विश्वासहीनता से कायम हुआ है। क्या नारायण बाबू की बदहवासी और विश्वासहीनता का उनके समय से व्यवस्था से, स्वतंत्र भारत की दशा दिशा से कोई संबंध नहीं है। कहानी में शकलदीप बाबू का जो उत्साह

दीखता है क्या उसे स्वतंत्र भारत की लड़ाई लड़नेवाला के उत्साह से जोड़कर देखना न्यायसंगत नहीं होगा। आजादी का फल किसने चखा। कम समय में जिसका इण्टरव्यू लिया गया, उसे डिप्टी कलकटरी की नौकरी मिली। फीस के रुपये की व्यवस्था करने के बाद शकलदीप बाबू का उत्साह से भर उठना स्वाभाविक है। उस उत्साह को देखकर सुरेन चौधरी को लगता है ‘‘दुनिया बदलने की संभावना अभी मरी नहीं है पर कहानी के अंत में क्या हम इस संभावना को जीवित देखते हैं। जब तक जीवन है, तब तक संभावना है। नारायण की सांसें का चलना जीवन और संभावनाओं का बचा रहना है।

शकलदीप बाबू हिंदी कहानी के अविस्मरणीय पात्रों में है, कर्ज से लदे होने, इच्छाओं के आहत होने के बाद भी जीवित अमरकान्त के यहाँ व्यक्ति-विशेष की ट्रेजिडी समय और एक व्यापक वर्ग की भी ट्रेजेडी बन जाती हैं, वस्तुस्थिति की जड़ता कोई एक पात्र तोड़ नहीं सकता, शकलदीप बाबू अपने प्रयत्न में असफल होते हैं। शकलदीप बाबू की मानसिकता की ‘चढ़ती-उतरती सोपानिकता पर सुरेन्द्र चौधरी ने ध्यान दिया है और इसके चित्रण-वर्णन में ‘अमरकान्त की सर्जनात्मक कल्पना के खूब रमने की बात कही है। मुंशीजी की मनोदशा एक विशेष समय और व्यवस्था में बनी है। अमरकान्त का मनो सामाजिक पक्ष पर अधिक ध्यान है। शकलदीप बाबू का व्यवहार एकरूप नहीं है वह उत्साह में आते और आक्रोश में भी। पत्नी जमुना उनके व्यवहार को नहीं समझ पाती। आलोचकों में सुरेन्द्र चौधरी और विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस पर थोड़ा ध्यान अवश्य दिया है, पर इस पर विस्तार से विचार की आवश्यकता बनी हुई है कि क्यों कोई व्यक्ति अपने सामान्य रूप में न रहकर आसामान्य हरकतें करता है? वे कौन से कारण हैं, जिनसे कोई व्यक्ति सदैव सामान्य नहीं रह पाता? शकलदीप बाबू के भाषिक कथनों और शारीरिक भंगिमाओं पर एक साथ ध्यान देने के बाद ही उनकी अस्वाभाविक भाव दशा और मनोदशा से हम अवगत होते हैं। सुरेन्द्र चौधरी ने उनके छोटे-छोटे क्रिया-कलापों में छिपे गहरे भावात्मक अर्थों की पहचान की है। क्रोध से शकलदीप बाबू का मुंह विकृत होता है, वे पत्नी से सिर को झटकते हुए, कराट कुकूर की तरह बोलते हैं, दाए हाथ को ऊपर-नीचे नचाते हैं, पत्नी

की बात सुनकर मुँह उनका तना हुआ था और गर्दन टेढ़ी हो गयी थी। बेटे को केवल कोसते ही नहीं, उसे पढ़ते देखकर उसकी आंखें शाश्चर्य फैलती हैं, एक ओर वे काँपते होठों से मुस्कराते हैं और दूसरी ओर ठहाका लगाकर हँसते हैं, अगर केवल उनकी हँसी को ही देखें तो उसके कई रूप हैं, बेमतलब ठुनक कर हंसना है आंखें का हास्य से संकुचित हो जाना है और ठठाकर हंसना भी है। ये सभी अस्वाभाविक क्रियाएँ हैं, जिनका मनोदशा से संबंध है और इस मनोदशा का संबंध आर्थिक दशा से है। सुरेन्द्र चौधरी ने ठीक लिखा है कि यह कहानी – एक विकासशील माने जानेवाले राष्ट्र के राष्ट्रकर्मी की सम्पूर्ण स्थिति है... यह कहानी महज रेखाचित्र नहीं रह जाती।

वह एक पूरे समकालीन समाज में युवककर्मी की उपराम व्यथा बन जाती है। यह व्यथा न तो नकार को जन्म देती है और न उस सिनिसिज्म को जो सातवें दशक की केन्द्रीय मनोभूमिका बन जाती है। इस अर्थ में अमरकान्त की लड़ाई दुहरी है, अपने बाहर से भी और अपने भीतर से भी, उनकी कहानी का सार और सरोकार नई कहानी का एक रचनात्मक पहलू है। (हिंदी कहानी: रचना और परिस्थिति) डिप्टी कलक्टर कहानी में जो निम्न मध्यवर्गीय आकांक्षा है, उसका जनांकक्षा से कोई संबंध नहीं है डिप्टी कलक्टर का पद प्रशासनिक है, जिसका सामान्य जन से संबंध है। नारायण का डिप्टी कलक्टर ना होना, उसके, उसके पिता और पारिवारिक सदस्यों के लिए जितना दुखद हो, पर नारायण भ्रष्ट तंत्र में शामिल नहीं हो पाता है। यह कहानी का सौन्दर्य है। अमरकान्त को इस भ्रष्ट तंत्र में शामिल होना गवारा नहीं है। कहानी में विश्वास स्वप्न, आकांक्षा में से कोई भी पूरी नहीं होती। विश्वास नारायण के श्रम पर है, इण्टरव्यू लेने वालों पर है आकांक्षा डिप्टी कलक्टर बनने की है और यही स्वप्न भी है। सब चकनाचूर होते हैं। कहानी में इसकी कहीं कोई आवाज नहीं है, पर उसे सुना जा

सकता है। शकलदीप बाबू का विश्वास ईश्वर पर है यह विश्वास खंडित होता है। बेटे का विश्वास मिहनत और लंबे समय तक दिये गये इंटरव्यू पर है दोनों खंडित होते हैं। डिप्टी कलक्टर कहानी इस प्रकार स्वतंत्र भारत के पहले दशक में ही समाज में परतंत्र से श्रम अध्यवसाय और मिहनत पर प्रश्न खड़े करती है। शकलदीप बाबू की ईश्वर में आस्था व्यवस्था में अनास्था के कारण है। उनकी ट्रेजेडी यह है कि भाग्य और ईश्वर भी साथ नहीं देता। प्रतिकूल परिस्थितियों में जिया जा रहा यह जीवन पाठकों को व्यापक फलक पर सोचने को विवश करता है। शकलदीप बाबू दोनों ओर से पिटे हुए हैं – व्यवस्था और भाग्य। परिवार का भाग्य एक व्यक्ति पर केन्द्रित है। व्यक्ति की असफलता मात्र उसकी असफलता नहीं है। डिप्टी कलक्टर कहानी में नारायण शकलदीप बाबू पूरा परिवार का जो चित्र प्रस्तुत है, वह परिवार तक ही सीमित नहीं है, यह पारिवारिक कथा के साथ-साथ सामाजिक कथा भी है, इण्टरव्यू के बाद परिणाम घोषित किये जाने में धांधली पर अलग से अमरकान्त ने विचार नहीं किया है। उनका सारा ध्यान नतीजे से पड़ने वाले प्रभाव पर है। प्रभावान्विति की दृष्टि से अमरकान्त विशिष्ट कथाकार हैं। शकलदीप बाबू की मानसिक स्थिति उनकी आर्थिक स्थिति से जुड़ी है। आर्थिक दशा से मनोदशा का गहरा संबंध है। अमरकान्त शारीरिक भंगिमाओं को सामने रखकर इसके कारकों पर सोचने को हमें विवश करते हैं। मनोदशा, जीवन दशा, आर्थिक दशा, तंत्र और व्यवस्था सबको एक दूसरे से जोड़कर, गूँथकर ही कहानी के मर्म तक पहुंचा जा सकता है। भारतीय समाज में एक वर्ग-विशेष की रुकी-ठहरी स्थितियों का चित्र-संकेत चित्र प्रस्तुत कर अमरकान्त अपने पाठकों को मात्र सोचने को नहीं, उस दिशा में रुकी ठहरी स्थितियों को बदलने की दिशा में क्या संकेत नहीं करते? 'डिप्टी कलक्टर' कहानी में जो अनकहा है, प्रच्छन्न है, वहा कहीं अधिक अर्थवान है।

सम्पर्क : २०४, रामेश्वरम कॉम्प्लेक्स, साउथ ऑफिस पाड़ा, डोरंडा,
राची-८३४००२, मो. ९४३११०३९६०

मारे गये गुलफाम उर्फ तीसरी कसम

अरविन्द कुमार

हिन्दी में बहुत कम लम्बी कहानियां लिखी गयी हैं। फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम' उन्हीं में से एक है। रेणु नयी कहानी के कहानीकार तो नहीं थे पर यह कहानी उसी दौर की है। यह १९५८ में लिखी गयी थी जिसे रेणु के एक मित्र नर्मदेश्वर प्रसाद ने पटना से निकलनेवाली अनियतकालीन पत्रिका अपरम्परा में छापा था। तब रेणु बड़े कथाकार नहीं थे जिन्हें किसी बड़ी पत्रिका में स्थान मिलता। यह कुछ वैसे ही था जैसे मैला आँचल (१९५४) के प्रकाशन के लिए उन्हें दर-दर की खाक छाननी पड़ी थी और हाताश होकर लतिका जी के संचित पैसे से उसे छपवाना पड़ा था। ऐसी विडम्बना हिंदी के कई बड़े लेखकों के साथ होती रही है। तीसरी कसम तो तब चर्चित हुई जब शैलेन्द्र ने इस कहानी पर इसी शीर्षक से फिल्म बना डाली और इसे लोकगीतों में पिरोकर जन-जन तक पहुंचाया। कला फिल्मों के निर्देशक बासु भट्टाचार्य के निर्देशन में १९६६ में बनी इस फिल्म में राजकपूर और वहीदा रहमान ने अभिनय किया था।

चंपा का फूल और बैलगाड़ी के पहिए

तीसरी कसम का मुख्य कथा-स्थल फारबिसगंज है जहां यह कहानी कई दिनों तक रुकती है। जाहिर है कि रेणु का जन्म औराही हिंगना में हुआ था, इस नाते उनकी ढेरों कहानियों के पात्र इसी इलाके या अंचल से आते हैं। वैसे भी एक अच्छी कहानी वही होती है जिसकी केन्द्रीयता कथा के पात्रों को बांधे रहती हो और उन्हें उनके मंतव्य तक पहुंचाती हो। कहानी फारबिसगंज के निकटवर्ती स्टेशन अररिया से प्रारम्भ होती है जहां मथुरा मोहन नौटंकी कंपनी की नर्तकी हीराबाई रीता नौटंकी कंपनी के बुलावे पर अपने नृत्य का जादू बिखेरने अपने पांव रखती है और उसका पहला सामना हिरामन से होता है जिसे हीराबाई को स्टेशन से फारबिसगंज मेले तक छोड़ने का जिम्मा मिला है। स्टेशन से फारबिसगंज तक का रास्ता कच्चा है, उस पूरे इलाके में सड़कें नहीं हैं और कहीं भी आने-जाने का एकमात्र साधन बैलगाड़ियां हैं जो सारे इलाके को एक-दूसरे से जोड़ती हैं।

कहानी के दो ही प्रमुख पात्र हैं—एक हीराबाई तथा दूसरा हिरामन। पूरी कथा की धुरी इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है। हीराबाई नर्तकी है और हिरामन गाड़ीवान पर दोनों में एक ही प्रकार के रसायन हैं। न कोई अहंकार, न दिखावा, न उजड़पन—एक सरलता जो सबका मन मोह लेती है। वहां से फारबिसगंज की दूरी बहुत नहीं है पर कच्चे रास्ते के हिसाब से उसे तय करने में दिनभर का समय लगना है। जाहिर है लम्बी यात्रा में थकान भी होगी और उबाऊपन भी। इसलिए कथाकार मुख्य कथा के भीतर कई उप-कथाओं में शामिल कर लेता है।

तीसरी कसम एक दृश्यात्मक कहानी है जहां रास्ते भर पाठक उन दृश्यों से बतियाता चलता है। एक सीधा-सादा अंचल, वहां के कच्चे रास्ते, किनारे से बहती हुई नदी, धान और पाट के खेत और उन रास्तों से गुजरती बैलगाड़ी। बैलगाड़ी को हांकता एक गाड़ीवान और पीछे बैठी एक सुन्दर कोमल स्त्री जो कुछ ही देर में हिरामन की दोस्त बन गयी है। कहानी में कहीं कोई आवरण नहीं है, एक रोमांच जरूर है जो कहानी को पाठकों से जोड़े रहता है। बैलगाड़ी चलती है, फिर तेगछिया के पास रुकती है, फिर चलती है और मेले में पहुंच जाती है। हिरामन इस नीरस यात्रा में हीराबाई का मन लगाने का प्रयास तो करता है पर अपनी कितनी बातें वह कर सकता है, इसलिए वह उस इलाके से जुड़ी दो लोककथाओं को ले आता है—एक राजा की कथा तथा दूसरी महुआ घटवारिन की जिसे सुनाते-सुनाते वह हीराबाई में ही महुआ का अक्स देखने लगता है। हिरामन एक सीधा-सादा नौजवान है और गाड़ीवान उसका पेशा है। पर वह अन्य गाड़ीवानों से अलग है। उसके कुछ उसूल हैं और वह पैसे के लिए कुछ भी नहीं कर सकता है। इसी क्रम में अपनी गाड़ी से हुए धोखे के बाद उसने दो कसमें खा रखी हैं—एक कि वह चोर बाजारी का माल नहीं लादेगा तथा दूसरी कि वह बांस की लदनी नहीं करेगा। मोरंग राज नेपाल से जोगबनी तक की यात्रा में अपनी गाड़ी पर चोरबाजारी का राशन लादकर एक बार वह अपनी गाड़ी खो चुका है और दूसरी बार बांस की लदनी के कारण बेंत से पिटाई भी खा चुका है। बीच में पैसे की कमी और फिर से गाड़ी बनवाने की लाचारी में वह अपने बैलों को बाघगाड़ी से भी जोत चुका है—पर इस बार सामान की लदनी नहीं है न ही बाघों को कहीं पहुंचाना है। इस बार तो गाड़ी में नौटंकी कम्पनी की बाई बैठी है जो इतनी नाजुक है कि गाड़ी के जरा हिचकोले खाते ही लरज उठती है। हिरामन को अपने बैलों को डांटना पड़ता है—‘क्या समझता है, बोरे की लदनी है क्या’। कहानी जब शुरू होती है तो वहां पहली मौजूदगी हिरामन की होती है। बैलगाड़ी स्टेशन से हीराबाई को लेकर चल पड़ी है और सीधे-सादे हिरामन की पीठ में गुदगुदी लग रही है। चूँकि हिरामन के लिए यह अनुभव बिल्कुल नया है, इसीलिए इसे वह सहजता से पचा नहीं पाता। उसकी गाड़ी में कोई औरत बैठेगी और उसके शरीर से चंपा के फूल की महक आएगी, उसकी बोली में एक मिठास और मासूमियत होगी और वह उसे मीठा बना लेगी—यह वह सोच ही नहीं सकता था। कहानी एक रहस्य की सृष्टि

भी करती है जहां हिरामन को आशंका होती है—‘औरत अकेली, भगवान जाने क्या लिखा है इस बार उसकी किस्मत में। सबकुछ रहस्यमय—अजगुत—अजगुत लग रहा है। सामने चंपानगर से सिंधिया गांव तक फैला हुआ मैदान। कहीं डाकिन-पिशाचिन तो नहीं। हीराबाई हिरामन के लिए शुरू से ही एक पहेली की तरह है। कहानी में रेणु का अपना कथा-वितान है, अपनी शब्दावलियां हैं, अंचल के देशज अनुभव हैं। और पहली बार किसी सुन्दर औरत को चित्रित करने का वातावरण है। हिरामन की सवारी के चेहरे पर जैसे ही चांदनी छिटकी, वैसे ही हिरामन की चीख निकल गयी—‘अरे बाप! ई तो परी है! हिरामन ने इतनी सुन्दर औरत देखी कब है। और न वह उसकी कल्पना में है। इसलिए जब परी उसका नाम पूछती है तो उसकी आवाज से भी चौंक उठता है—‘हू-ब-हू फेनूगिलास। और यहीं से एक नयी शब्दावली चल पड़ती है—इस्स! जो पूरी कहानी में हिरामन की एक पहचान बन जाती है।

तेगछिया और कचरी नदी की धारा

हिचकोले लेती गाड़ी चली जारही है। नदी के किनारे धन-खेतों से फूले हुए धान के पौधे की पवनियां गंध आती है। आसिन-कातिक के भोर में छा जाने वाले घने कुहासे आज हिरामन को विचलित नहीं कर रहे, चूँकि आज अपनी मीता को सुरक्षित मेले तक पहुंचाने की जिम्मेवारी है। यह जिम्मेवारी पूरी हो जाए, बस। ...जै भगवती। चालीस साल का हड्डा-कड्डा, काला-कलूटा यह देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता रहा है पर आज वह हीराबाई के कनफूलों को भी देख रहा है और उसके विन्यास को भी। उसकी नजर नाक पर जड़े नगों पर भी है और उसकी सरल हँसी पर भी। किसी ने जैसे हिरामन पर जादू कर दिया है।

गाड़ी चलती जा रही है। रास्ते में जगह-जगह मिलते गाड़ीवानों से विभिन्न बहाने बनाता हुआ हिरामन अपनी हीराबाई को लेकर तेगछिया तक पहुंच जाता है। दरअसल जमाने भर की निगाह से बचाना चाहता है वह अपनी मीता को। उसकी परी को रास्ते में कोई अन्य देख ले, यह कैसे हो सकता है। हिरामन परदे को सरकाते हुए कहता है—‘देखिए यही है तेगछिया। दो पेड़ जटामासी बड़ हैं और एक.. उस फूल का क्या नाम है, आपके कुरते पर जैसा फूल छपा हुआ है, वैसा ही, खूब

महकता है।' फिर हिरामन गांव के उन मकानों की ओर इशारा करता हुआ कहता है- 'वही है नामलगर ड्योढ़ी। जा रे जमाना! क्या था और क्या से क्या हो गया।' यहां पहुंचकर कहानी अतीत के एक रहस्य के साथ ठहर जाती है। पुराने बचे मकान और खंडहर स्मृतियों में तैरने लगते हैं। इस 'जा रे जमाना!' का जिक्र रेणु की कई कहानियों में है। यानी जो नहीं है, अतीत हो चुका है, उसे कथाकार भूलना नहीं चाहता। ये स्मृतियां रेणु की कहानियों में निरंतर चलती रहती हैं। गाड़ी को दोपहर की तेज धूप में इसी पेड़ छाया में रूकना है। हिरामन और हीराबाई को बगल में बहती कजरी नदी के शीतल जल में अपनी थकान मिटानी है तो कहानी को एक अवकाश चाहिए। कहानीकार उस अवकाश में इस लोक-अंचल में फैली इस कथा से पाठकों का परिचय कराना चाहता है और इसके लिए वह हिरामन का सहारा लेता है। हिरामन अपनी यादाश्त, कथा कहने की कला और अपनी बातों से दूसरों को प्रभावित करने का गुण खोना नहीं चाहता, वह गा रहा है-

**'जै मैया सरोसती, अरजी करत बानी
हमरा पर होखू सहाई हे मैया, हमरा पर होखू सहाई'**

और धीरे-धीरे उसे गुजरा हुआ जमाना याद आने लगता है। क्या जमाना था जब लोग बिदेसिया, बलवाही, छोकरा-नाचवाले एक-से-एक गलत खेमटा गाते थे। तभी छोकरा-नाच के गीत की याद हो आई हिरामन को सजनवा बैरी हो गये हमारा। हिरामन की खुशी का ठिकाना नहीं, हीराबाई कहती है- 'वाह, कितना बढ़िया गाते हो तुम।' ... हिरामन हीराबाई को बैलगाड़ी से उतरकर कजरी नदी की धारा की ओर जाते देखता है, हीराबाई का तलुआ इतना लाल क्यों है। हीराबाई के होंठ भी तो लाल हैं। पर मामला विश्वास का है, उससे कहीं कोई चूक नहीं होनी चाहिए, इसलिए गाड़ीवानों के सवाल का जवाब देते हुए वह कहता है- 'सिरपुर बाजार के इस पिताल की डगडरनी हैं। रोगी देखने जा रही हैं। पास की कुड़मागाम।' ... इसके पहले भी गाड़ीवानों के सवाल पर वह कह चुका है- 'बिदागी है।' और यहां वह छत्तापुर पचीरा तथा नननपुर का नाम लेता है। वह कहता है- 'इस मुलुक के लोगों की यही आदत बुरी है। राह चलते एक सौ जिरह करेंगे।'

लाली-लाली डोलिया और महुआ

इस कहानी में बहुत स्पेस है। गाड़ी चली जा रही है, बच्चे पीछे दौड़ रहे हैं और गा रहे हैं- 'लाली-लाली डोलिया में/

लाली रे दुलहिनिया।' ... हिरामन धीरे-धीरे अपने सपनों की ओर लौटता है। काश! उसकी जिन्दगी में भी ऐसा ही एक दिन आता जब वह अपनी दुलहिनिया को लेकर इसी गाड़ी में इसी तरह अपने गांव लौटता और बच्चों का हुजूम इन्हीं पंक्तियों को दुहराता!... दुलाहिनिया, लाली-लाली, डोलियो। दुलहिनिया पान खाती है, दुलहा की पगड़ी में मुंह पोंछती है। ओ दुलहिनिया, तेगछिया गांव के बच्चों को याद रखना। लाख बरिस तेरा दुलहा जीए।

कहानी दूसरी परत में प्रवेश करती है जहां महुआ घटवारिन है। हीराबाई के यह कहने पर कि अपनी बोली का कुछ सुनाओ, हिरामन बोल उठता है- 'इस्स! हू-ब-हू महुआ घटवारिन! अच्छा जब आपको इतना सौक है तोसुनिए महुआ घटवारिन का गीत। इसमें गीत भी है, कथ्या भी है।... जै भगवती। आज हिरामन अपने मन को खलास कर लेगा।' ... महुआ घटवारिन की कहानी चल पड़ती है। परमार नदी, महुआ, सौतेली माँ, सौदागर-न जाने कितने चित्र उभरते चले जाते हैं। सावन-भादो की उमड़ी हुई नदी, भयावनी रात, कड़कती बिजली, सौदागर से अपने को बचाने के लिए नदी में कूदती महुआ, उसके पीछे कूदता सौदागर का नौकर, पंद्रह-बीस साल तक उलटी धारा में तैरती महुआ को एक किनारा मिल जाता है।

हिरामन गा रहा है- 'अ-अ-अ सावना भादवा के-र-उमड़ल नदिया-गे-मै-यो-ओ-ओ-गेरैन भयावनि-हेए-ए-ए-ए तड़का-तड़के धड़के करेज-आ-आ मोरा।' कथाकार ने इस यात्रा में हिरामन से कई गीत गवाये हैं।

हीराबाई की आंखों में आंसू हैं- 'तुम तो उस्ताद हो मीता।' ... इस्स। हिरामन अपने बैलों से कहता है- 'कदम खोलकर और कलेजा बांधकर चलो बड़के भैयन। याद नहीं, चौधरी की बेटी की बारात में कितनी गाड़ियां थीं, सबको कैसे मात किया था। हां, वही कदम निकालो।' वह पहले भी अपने बैलों से ऐसे संवाद कर चुका है- 'कान चुनियाकर गप सुनने से ही तीस कोस मंजिल कटेगी क्या।' पर फिर वह खुद ही कह बैठता है- 'इस गीत में न जाने क्या है कि सुनते ही दोनों थसथसा जाते हैं।'

कहानी आगे चलती है। हीराबाई की नजर में हिरामन तो सचमुच हीरा है। अब हीराबाई को फारबिसंज पहुंचने की जल्दी नहीं। हिरामन पर उसको इतना भरोसा हो गया कि डर-

भय की कोई बात ही नहीं उठती है मन में। जब हिरामन उसके लिए नननपुर के हाट से चाय लाता है तो वह कहती है—‘पीजिए गुरुजी।’

हिरामन कहता है—‘इस्स। आप मुझे गुरुजी मत कहिए।’ तो हीराबाई कह बैठती है—‘तुम मेरे उस्ताद हो। हमारे शास्त्र में लिखा हुआ है, एक अच्छे सिखानेवाला भी गुरु और एक राग सिखानेवाला भी उस्ताद।’

हिरामन को चाय की तासीर बड़ी गर्म लगती है। वह कहता भी है—चाय है या जान। नहीं, नहीं वह चाय नहीं पीएगा। वह भोग चुका है एक बार। सरकस कंपनी की मेम की हाथ की चाय पीकर उसने देख लिया है।

कहानी परत-दर-परत उतरती जाती है। फारबिसगंज तो हिरामन का घर-दुआर है। न जाने कितनी बार वह यहां आया है। मेले की लदनी लादी है। हिरामन तिरपाल से अपनी गाड़ी को घेर रहा है। आज की रात हिरामन की गाड़ी में रहेगी हीराबाई। हिरामन की गाड़ी में नहीं घर में। या हिरामन के दिल में। घुन्नीराम हिरामन से कह रहा है—क्या किस्मत है तुम्हारी। उस साल कंपनी का बाघ, इस बार कंपनी की जनानी। पलटदास के मन में भी जै-जैकार हो रहा है।...सियावर रामचन्द्र की जै। रामलीला में सिया सुकुमारी इसी तरह लेटी हुई थी जैसे हीराबाई लेटी हुई है। उसने थकी हुई सीता महारानी के चरण टीपने की इच्छा जाहिर कर दी है। और अब डांट खाकर मेला छोड़कर भाग जाना चाहता है। लाल मोहर हिरामन का खुशबूदार कंधा छूकर कहता है—‘ए-ह।’ हिरामन उसके भीतर बेचैनी पैदा कर रहा है—‘जरा-सा हाथ रखने पर इतनी खुशबू। समझे।’ पर यह क्या। कंपनी की औरत तो अभी कंपनी में जा रही है। उसका आदमी आ गया है। वह हिरामन से कहती है—‘कल सुबह रीता कंपनी में आकर मुझे भेंट करना। पास बनवा दूंगी।’ फिर वह बैलों की ओर भी मुखातिब होती है—‘अच्छा, मैं चली भैयन।’ बैलों ने तो कान हिला दिये पर हिरामन चुप है। क्या किसी का दिल ऐसे ही तोड़ा जाता है।

नौटंकी में सिया-सुकुमारी

कहानी पहला पड़ाव पार करती है। हीराबाई...रीता नौटंकी कम्पनी...नाच... धक्कमधुक्की...नगाड़े की थाप...और एक नहीं, पांच पास, सभी अठनिया। पलटदास फिर पलटकर आ गया है। कपड़घर के अंदर परदेपर राम-बन-गमन की तस्वीर है। पलटदास की आंखें भर आयी है—जै हो, जै हो। सभी

पहली बार यह सब देख रहे हैं, जमाने की बदलती हवा से एकदम अनभिज्ञ। हिरामन पूछता है—‘लाल मोहर, छापी सभी खड़े हैं या चल रहे हैं। लालमोहर अपनी जमात में थोड़ा होशियार है। कहता है—‘खेला अभी परदा के भीतर है। अभी जमनिका दे रहा है, लोग जमाने के लिए।’ धीरे-धीरे भीड़ बढ़ रही है। दृश्य बदलता है। हीराबाई स्टेज पर उतर आयी है। नगाड़ा बज रहा है—

*‘तेरी बांकी अदा पर मैं खुद हूँ फिदा
तेरी चाहत को दिलबर बयां क्या करूँ।
यही ख्वाहिश है कि तू मुझको देखा करे
और दिलो जान मैं तुमको देखा करूँ।’*

गुलबदन दरबार लगाकर बैठी है। एलान कर रही है, जो आदमी तख्त हजार बनाकर ला देगा, मुंहमागी चीज इनाम में मिलेगी। पर भीड़ फलियां कस रही है। ...हिरामन को यह बरदाश्त नहीं। उसकी आवाज कपड़घर को फाड़ रही है—‘आओ, एक-एक की गर्दन उतार लेंगे।’... लालमोहर दुआली से सामनेवालों को फटापट पीटता जा रहा है। पलटदास एक आदमी की छाती पर सवार है—‘साला, सिया सुकुमारी को गाली देता है।’

लहसनवां अंदर आते हुए पूछ रहा है—‘मालिक, कौन आदमी क्या बोल रहा था। बोलिए तो जरा।’ लोग लहसनवां की चौड़ी और सपाट छाती देखते हैं—चेले चाटी के साथ हैं ये लोग। ...हिरामन को बस एक गीत की आधी कड़ी हाथ लगी है—‘मारे गये गुलफाम, अजी हाँ, मारे गए गुलफाम।’ उसे यह अच्छा नहीं लगता कि हीराबाई को कोई पतुरिया या रंडी कहे। किस-किस से लड़ता रहेगा वह। वह हीराबाई से मिलकर कहेगा, नौटंकी कंपनी में रहने से बहुत बदनाम करते हैं लोग। आप सरकस कंपनी में क्यों नहीं काम करतीं। ...पर हीराबाई का तो यही पेशा है अपनी कला को बेचना। जाहिर है कि इन अंचलों में कला या नृत्य को सम्मान से नहीं देखा जाता और इसको लेकर एक सही समझ विकसित होने में अभी काफी वक्त लगेगा। रेणु अपनी कहानियों के माध्यम से लोक कलाओं को बचाना चाहते हैं—चाहे वह नौटंकी हो, या बिदेसिया या फिर विदापत नाच क्योंकि बदलते समय में ये चीजें आम जनमानस से धीरे-धीरे दूर होती जा रही है। इसीलिए ‘रसप्रिया’ का मिरदंगिया पचकौड़ी अपने ऊंगलियां टेढ़ी हो जाने के बाद विदापत नाच और रसप्रिया की विरासत को जीवित रखने के लिए मोहना जैसे लड़के की खोज में दिन-रात लगा रहता है।

गूंगी आवाजें उर्फ मारे गये गुलफाम

दृश्य फिर बदलता है। मेला अभी टूटा नहीं है पर हीराबाई वापस जा रही है। अपने देश कानपुर, अपनी पुरानी मथुरा मोहन नौटंकी कंपनी के पास। हीराबाई के जाने की बात हिरामन को लाल मोहर से पता चलती है- 'तुमको ढूंढ रही है हीराबाई, इस्टिसन पर।' तो वह मेले से लाल मोहर की गाड़ी पर आयी है। हीरामन भौंचक है, यह भी कोई तरीका है। चुपचाप चले आए, चुपचाप चले जा रहे हैं। जनाना मुसाफिरखाना के पास खड़ी है हीराबाई- 'उस्ताद। मैं जा रही हूं गुरुजी। चलो, भेंट हो गई, मैं तो उम्मीद खो चुकी थी।' हीराबाई ने अपने कुरते के अंदर से रुपये की थैली निकालकर हिरामन को देते हुए कहा- 'एक गरम चादर खरीद लेना।' फिर उसके कंधे पर हाथ रखा... इस बार दाहिने कंधे पर, फिर बोली- 'तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरुजी।' गला भर आया हीराबाई का। पर महुआ घटवारिन को तो बिकना ही था-चाहे नौटंकी कंपनी में बिके या किसी सौदागर के हाथ। लेकिन हिरामन के लिए तो यह सदमे की तरह था।

वह बोल पड़ा- 'हरदम रुपैया-पैसा! रखिए रुपैया! क्या करोगे चादर!

गाड़ी हिली-छी-ई-ई-छक्क। हिरामन के कलेजे की धड़कन बढ़ती चली गयी, हिरामन ने अपने दाहिने पैर के अंगूठे को बाएं पैर की एड़ी से कुचल दिया। यदि अरमान, इच्छाएं बेवजह हों तो उन्हें कुचलना ही पड़ता है। धड़कन कुछ ठीक हो गई। पर मन का शोर बढ़ता चला गया। प्लेटफार्म

खाली...सब खाली...खोखले मालगाड़ी के डिब्बे। दुनिया ही खाली हो गई हो मानो! हिरामन गाँव लौट जाएगा आज ही। हिरामन के लिए इस मेले में क्या धरा है। खोखला मेला।

हिरामन अपनी गाड़ी के पास लौट आया है। पर अपने खाली पड़े टप्पर की ओर नजर घुमाने की हिम्मत उसकी नहीं होती। टप्पर में एक ही दिन की कई-कई स्मृतियां हैं। हीराबाई, महुआ, घटवारिन, डाकिन-पिशाचिन, महक्ता चम्पा का फूल, फेनू गिलासी बोली, लाल-लाल होंठों पर गोरस का परस। गाड़ी के पीछे दौड़ती लड़कों की टोली तथा एक दिन के लिए ही सही, जमाने भर की निगाह से अपनी महुआ को बचाने में लगा हिरामन।

पर सपने सपने ही होते हैं। हिरामन ने उलटकर टप्पर की ओर देखा, बोरे भी नहीं, बांस भी नहीं, बाघ भी नहीं, परी...देवी....मीता....हीरादेवी....महुआ घटवारिन....कोई नहीं। मरे हुए मुहूर्तों की गूंगी आवाजें मुखर होना चाहती हैं। हिरामन इन सपनों को, बीते हुए क्षणों को अपनी जिन्दगी से बाहर निकालना चाहता है। हिरामन के होंठ हिल रहे हैं, शायद वह तीसरी कसम खा रहा है-कंपनी की औरत की लदनी...। पहले की दोनों कसमें खाते हुए उसे दुख नहीं हुआ था पर यह तीसरी कसम...कहीं अंदर जैसे कुछ चटक रहा था। वह अपने बैलों से कह रहा है- 'रेलवे लाइन की ओर उलट-उलटकर क्या देखते हो।' पर खुद उसकी आँखें भी तो रेलवे लाइन से नहीं हट रही हैं। वह गुनगुना रहा है- 'अजी हां। मारे गये गुलफाम...।'

संपर्क : ५०२, महेश अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर-८१२००१
मो.-९९३४६६५९३८

ओमान की खाड़ी में हिन्दी बोलते बतियाते हुए

विजोद साव

हम थे तो विदेश में पर विदेशी रंग दिखा नहीं था. ऐसा लगता था जैसे हम अपने ही देश में तीन घंटे पहले छोड़ आए दिल्ली हवाई अड्डे में कहीं घूम रहे हों. दिल्ली की तरह इसका भी हवाई अड्डा विशाल है. दोनों के नाम में हिंदी अंग्रेजी के पहले अक्षर एक समान हैं 'द' और 'डी' यानि दिल्ली और दुबई. इसकी अंतिम मात्रा हमारी मुंबई की तरह है, और यह मुंबई की तरह हसीन भी है अरब सागर के किनारे बसी मियामी शैली की बहुमंजिली इमारतों वाली. इन दोनों की तरह यह भी एशिया महाद्वीप का एक प्रमुख महानगर हो गया है. सात राज्यों को समेटे हुए इसका देश भारत की तरह गणतांत्रिक देश अपने को कहता है और अपने पूरे नाम में लिखता भी है 'संयुक्त अरब अमीरात यानि गणराज्य.'

दिल्ली में विमान पकड़ने या विमान से उतरने पर हमें टर्मिनल भवन तक छोड़ने का काम शटल बस करती हैं पर यहां एयरपोर्ट के अंदर शटल ट्रेन चलती है. एयरपोर्ट के भीतर ट्रेन पहली बार बैंकाक में दिखी थी पर वे शटल या मेट्रो नहीं स्काई ट्रेन कहलाती हैं और शहर में ऊँचे बने पुलों पर ऐसे दौड़ती हैं मानों आसमान से बातें कर रही हों. वे जब आसमान से ज़मीन पर आती थीं तब सीधे बैंकाक के सुवर्णभूमि एयरपोर्ट में घुस जाती थीं और हवाई यात्रियों को उतारकर फिर आसमान में उड़ जाती थीं.

एयरपोर्ट के लंबे उतार चढ़ाव के बाद हम एक पारदर्शी सुरंग के सामने खड़े हो गए थे जिसके भीतर बिना किसी शोर-शराबे के शटल आकर खड़ी हो गई थी. हम इसमें बैठकर टर्मिनल के निर्गम द्वार की ओर आ गए थे. इंडिगो की अपेक्षाकृत सस्ती फ्लाईट में ज्यादा संख्या में मजदूर भी उतरे थे जो अपने अपने क्षेत्र के हुनरमंद कारीगर और टेक्नीशियन रहे होंगे. वे अपने बड़े छोटे सारे सामान अपने हाथों और कंधों में लटकाए हुए थे. अपने झोला झपाटे लिए वे विमान से वैसे ही उतर कर चल रहे थे जैसे देस में अपनी बस यात्रा के बाद बस से उतर कर चलते होंगे. हमारी तरह उन्होंने अपने लगेज विमान के नीचे रखने के लिए जमा नहीं किए थे. इसलिए वे लगेज बेल्ट के सामने लाइन लगाने से मुक्त थे. पर निकलने से पहले दस्तावेजों की जांच के लिए लाइन में सब खड़े थे.

अचानक हिंदी में निर्देश देने की आवाज़ आई. तब काउंटर पर बैठे एक जांच अधिकारी दिखाई दिए जो अरबी इस्लामी लंबी पोशाक 'अबाया' पहने हुए थे. उन्होंने एक यात्री का वीसा दिखाते हुए लाइन में लगे लोगों से कहा कि 'भाई साहब! आप लोग अपना ये वाला कागज भी निकाल कर रखें.' तब परदेस में अपनी बोली को सुनकर मैंने और चंद्रा ने एक दूसरे को सुखद आश्चर्य से देखा था. हाँ इस बार विदेश

यात्रा में थोड़ी हिम्मत करके हम केवल दो ही आ गए थे मैं और पत्नी चंद्रा. तब साड़ी में लिपटी चंद्रा के हिन्दुस्तानी चेहरे को जांच अधिकारियों ने तरलता से देखा था.

‘आप लोग कहाँ जा रहे हैं इधर आइये.’ एक ट्राली लेकर चलती हुई अकेली महिला थी. वह भी चंद्रा की तरह साड़ी पहने हुए थी और चंद्रा जैसे ही सामान्य गृहणी लगी थी पर यहां दुबई प्रवासी हो जाने के कारण भारत से दुबई अकेले आ गई थी यहां रह रहे अपने परिवार के पास – ‘बाहर निकलने का रास्ता इधर से है’ उसने कहा था तब हम उनके पीछे हो चले थे. उस महिला के साथ कस्टम वालों ने हमें रोक लिया था और हमारे बैग को स्कैनर में डाल दिया था. सुना था कि अरब में नियम कानून बड़े सख्त हैं. यहां सिगरेट, शराब और दवाइयाँ रखने पर भी आपत्तियां ली जाती हैं. सबके लिए अनुमति पत्र दिखाने होते हैं और नियमित खायी जाने वाली दवाइयों के लिए डॉक्टर का प्रिस्क्रिप्शन लेकर अलग. पर पता नहीं स्कैनर मशीन ने कितनी सेंध मारी कि हम बैग की तलाशी लिए जाने से बच गए थे. हमारे पास दवाइयां थीं और मेरी सिगरेट का एक पैकेट भी.

हाथों में लटकती हुई अनेक प्लैकाड (छड़ी में लगी तख्तियों) में मेरे नाम की तख्ती अंतिम हाथों में मिली थी तब तक के लिए थोड़ी घबराहट हुई थी पर अपने नाम के दिख जाने के बाद जो प्रसन्नता होती है सो अलग ‘इज इट योर नेम सर?’ उसने पूछा था. उसका हिन्दुस्तानी चेहरा देखकर तब मैंने कहा ‘हाँ!’ इसके बाद वे हिंदी ही बोलने लगे थे सिवा इसके कि ‘वी वेल्कम बोथ ऑफ यू सर... फ्रॉम बॉटन टूर्स एंड ट्रेवल्स’ वे उस कंपनी के स्टाफ थे जिन्हें पांच दिनों तक हमारे दुबई प्रवास एवं भ्रमण के कार्यक्रम को अंजाम देना था. वे दो थे एक कंपनी का एयरपोर्ट प्रभारी जिसे आने वाले यात्रियों की अगुवानी करना उन्हें यथा-स्थान व्यवस्थित करना था और दूसरा ड्राइवर.

बाहर सैंटीस डिग्री तापमान बेहद उमसभरा और शरीर को झुलसाने वाला लगा. अगस्त का महीना सबेरे आठ बजे अपने शहर दुर्गा से रायपुर एयरपोर्ट वातानुकूलित बस से निकले थे. तब से चौदह घंटे बाद दुबई एयरपोर्ट तक इतनी ठंडकता रही थी कि मुझे स्वेटर पहनना और चंद्रा को शाल ओढ़ना पड़ा था. पर अब यहां समुद्र और रेगिस्तान के विरोधाभास के बीच बसे दुबई के वास्तविक तापमान से पाला पड़ रहा था.

ड्राइवर टोलटैक्स पटा कर पर्ची लेकर आ गया. हम लैंड

क्रूसेडर में बैठ गए थे. गिरे हुए बैरियर को ड्राइवर ने पर्ची दिखाई और मानवहीन बैरियर अपने आप उठ गया. यह दुबई का पहला चमत्कार था. ड्राइवर से नाम पूछने पर वह चालू हो गया था ‘हमारा नाम प्रतापसिंह है साब और हम यू.पी. के प्रतापगढ़ से आए हैं. यहां ज्यादातर ड्राइवर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के ही हैं. हिंदी-उर्दू बोलते हैं और दुबई की आधी आबादी हमी लोगों की है. इधर भाषा को लेकर कोई लफड़ा नहीं है. हम लोग ड्राइविंग परीक्षा भी हिंदी में देते हैं. यहां का आरटीए (सड़क एवं परिवहन प्राधिकरण) में हिंदी सहित चार भारतीय भाषाओं यानी मलयालम, तमिल और बांग्ला में भी परीक्षा दे सकते हैं. यहां किसी बात की कोई परेशानी नहीं है. आप जो सामान जहां छोड़ेगा ना जब आप लेने आएगा तो वहीं मिलेगा. हर चीज का नियम-कानून है और नहीं मानने से चालान है. सड़क पर चलते हुए दारू सिगरेट नई पीने का. जेब्रा क्रॉसिंग छोड़कर सड़क पार करने से दो सौ बीस रुपये का चालान है. ड्रिंक्स करके गाड़ी चलाने वाले के लिए चालान नहीं सीधा जेल है. आप बेफिकर रहिए.’ उसने एक जगह गाड़ी रोककर हमारे मोबाइल में दुबई का सिम डलवा दिया था पचास दिरहम (अरबी मुद्रा १ दिरहम = १७ रु.) यानी आठ सौ पचास रुपये का ‘अब आप अपने देस, घर परिवार में सबसे बातें कीजिए कोई टेंशन नहीं है.’ उसने एक झटके में ही इस वैश्विक दुनियां को घर-परिवार में तब्दील कर दिया था. उसने बर-दुबई में बेंग्रे कामत रेस्तरां में हमें गरमागरम पूरियों के साथ सुस्वादु भोजन करवाकर होटल में छोड़ दिया था. हमारी यात्रा का सुरक्षित पहला पड़ाव संपन्न हो गया था. मैंने इंडिगो के दुबई में लैंड करते समय एक नवजवान को थोड़े संशय से पूछा था कि ‘आप एयरपोर्ट से निकलते समय थोड़ा सहयोग करेंगे क्या?’ तब उसने बिंदास ढंग से कहा था ‘आपको ज़रूरत नहीं पड़ेगी सर. दुबई इज सेफेस्ट प्लेस इन द वर्ड.’

हम रोलिंग स्ट्रीट के इम्पीरियल सुइट्स होटल के छठवें माले में आ गए थे चार रात और पांच दिनों के लिए. इस शहर में जहां साल भर बारिश नहीं होती और इस पड़ोसी देश के शेख अपने बच्चों को केवल बारिश दिखाने के लिए मुंबई ले जाते हैं. प्रवासी एवं विदेशी मामलों के मंत्रालय द्वारा जारी वीसा में यह ‘स्लोगन’ भी लिख रखा है ‘ए सेफर नेबरहुड इज ए सेफर होम’ हम पड़ोस में हैं तो समझो अपने घर में हैं.

हम बर-दुबई में हैं इस अरबी शब्द का अर्थ है मेनलैंड यानि

पुरानी दुबई. यह एक अलग जिला है. संयुक्त अरब अमीरात के सात राज्यों (अमीरातों) में से दुबई एक अमीरात है. यह मुंबई जैसा विशाल है पर आबादी महज़ पच्चीस लाख. इसलिए पैदल चलने वाले भी कम ही दिखते हैं. रेलवे स्टेशन सारे देश में नहीं हैं. सड़कों पर बस व कारें हैं, बसें भी कम और दुपहिया तिपहिया वाहन केवल बेकरी या किराना सामानों की आपूर्ति के लिए है. नियमों से ऐसे स्वचालित हैं लोग कि पुलिस या सुरक्षाबल भी दिखाई नहीं पड़ते. जेब्रा क्रॉसिंग पर एक भी आदमी दिख जाए तो उसके सम्मानजनक ढंग से पार हो जाने के लिए कारों का काफ़िला अपने आप रुक जाता है. हम होटल के दरवाजे पर खड़े थे तो हमारे सामने एक कार आकर रुकी उसमें से फिक्सर से खड़े किए बालों वाले नौजवान ने उतरकर पूछा 'मिस्टर विनोद.' उसने बॉटन टूर्स की कार में हमें अपने निर्धारित कार्यक्रम के तहत ले लिया. उसने पूछा 'हिंदी आर इंग्लिश.' हमने कहा 'हिंदी.' फिर वे हमारे समान ही हिंदी बोलने लगे थे 'सर आज आपका दुबई सीटी टूर है.' फिर हमारे टूर आइडिनेरी (यात्रा दौरा कार्यक्रम) को देखकर उसने दुख व्यक्त करते हुए कहा कि 'ये तो छोटा कार्यक्रम है सर. इंडिया की जितनी टूरिस्ट एजेंसीज हैं ना .. सब चीटर हैं. आप लोगों को धोखे में रखती हैं.. खैर चलिए.'

केवल एक सदी पहले ही दुबई बेदूईन व्यापारियों और मोती के गोताखोरों के साथ फारस की खाड़ी में बसा एक शांत नगर था। फारस की खाड़ी का मुख्य स्रोत ओमान की खाड़ी है. संयुक्त अरब अमीरात से अपेक्षाकृत बड़ा देश ओमान होने से व्यापक रूप में अरब सागर के कई तटवर्तीय क्षेत्र ओमान की खाड़ी कहलाते हैं. इसे खाड़ी बुलाया जाता है पर भौगोलिक रूप से यह वास्तव में एक जलडमरू हैं. ये जलडमरूमध्य (दो सागर को जोड़ने वाले संकरे मार्ग) किसी देश के आयात-निर्यात को सुगम बनाकर उन्हें सुरक्षित व समृद्ध कर देते हैं. बहुत ज्यादा बरस नहीं बीते हैं दुबई की समृद्धि को. जब हम विद्यालयों में पढ़ रहे थे तब समृद्ध देशों में बस अमेरिका और यूरोपीय देशों के नाम सुना करते थे. अरब देशों को उनके रेगिस्तान, ऊंट और खजूर के लिए जानते थे. अलीबाबा और चालीस चोर, सिंदबाद, हातिमताई के किस्से सुना करते थे. 'अरेबियन नाइट्स' से उपजी ये कथाएँ तब हमारे देश में भी बाल-साहित्य की श्रेष्ठ कहानियों में बड़े चाव और हैरत से सुनी जाती थीं. फिल्मों में अरेबियन संगीत के साथ

मिश्र की हसीना के मादक नृत्य देखा करते थे. संयुक्त अरब अमीरात या उसके घटक अमीरात के सांस्कृतिक इतिहास से संबंधित कुछ अभिलेख क्षेत्र की मौखिक परंपरा के दर्ज होने और लोककथाओं व मिथको के आगे बढ़ने की वजह से मौजूद हैं. आज के वैश्वीकृत दुबई शहर की अर्थव्यवस्था तेल उद्योग, पर्यटन, रियल एस्टेट और वित्तीय सेवाओं पर आधारित है। शहर की शान है इसका कम अपराध दर, बुर्ज अल अरब (दुनिया के सबसे ऊंचे होटल में से एक), कृत्रिम द्वीप, रेगिस्तान में स्कीइंग और संभवतः दुनिया भर में सबसे अच्छी कर-मुक्त खरीदारी.

जैसे जैसे भारत से मलयाली भाइयों के दुबई जाने का समाचार सुनते तब जानकारी होने लगी कि अरब में तेल के कुँवें निकल आए हैं और रोजगार के अवसर बढ़ने लगे हैं. आज अरब में दुबई, शारजाह, अबूधाबी जैसे इनके अमीरात दुनिया के अमीर राज्यों और महानगरों में शुमार हो गए हैं. इनके पहले तब दुबई के शेखों के पास अपने कमाए इफरात धन को लुटाने और मौजमस्ती के लिए दो घंटे की उड़ान में बसी बम्बई का ही सहारा था. ये शेख बम्बई के सितारा होटलों में अपनी बीवियों बच्चों का हुजूम लेकर पहुंचते, बच्चों को बम्बई की बारिश दिखाते और अपने पैसों की वहां बेहिसाब बारिश करके लौट आते थे. बम्बई का गहरा प्रभाव इन अरबी अरबपतियों पर रहा और इन्होंने अपने लिए एक आधुनिक बम्बई और बसा ली जो दुबई है. इस दुबई का पर्यटन पिछले दो दशकों से उठान पर है और आज एशिया के सैलानियों के लिए थाईलैंड और सिंगापुर के बाद तीसरी पसंद है 'दुबई'.

दुबई और अबू धाबी ही सिर्फ दो अमीरात है जिनके पास देश की विधायिका अनुसार राष्ट्रीय महत्व के मामलों पर प्रत्यादेश शक्ति (झीहळलळळिपुशिी) है. इन दोनों राज्यों को स्वतंत्र देशों की तरह अनेक मामलों में निषेध और हस्तक्षेप करने का अधिकार है. लगभग डेढ़-सौ वर्षों से यहां अल माकतौम वंश ने शासन किया है. इसके मौजूदा शासक मोहम्मद बिन रशीद अल मक्तूम संयुक्त अरब अमीरात के प्रधानमंत्री और उप राष्ट्रपति भी है. शहर के भीतर ही हम चालीस किलोमीटर निकल आए थे. शहर की सफाई और भव्यता तो आँखों में भर गई थी. दुबई में शानदार होटलों और गगनचुम्बी चुम्बी भवनों के लिए विख्यात शेख जायद रोड होते हुए हम घूम रहे थे. बेहद खूबसूरत मस्जिदें भी दिखती जा रही थीं जो आस्था और भवन निर्माण कला का

नायाब नमूना थीं. गाइड की आवाज़ आई 'सर.. दुबई में बारिश नहीं होती.. साल भर में एक मिलीमीटर पानी गिर जाता है इसलिए समुद्र के नमकीन पानी को मीठा पानी कर लिया है. ड्रेनेज सिवरेज के पानी को काम के लायक बना लिया गया है और वह क्यूरिंग और गार्डनिंग के काम आ जाता है.'

गाइड प्रदीप मेहता गुजरात से आया है और ड्राइवर नूर मोहम्मद मथुरा का है. अक्सर वह मुस्कुराते हुए कृष्ण की बातें करता है. अचानक 'बाबा राम रहीम के बारे में पूछ बैठता है.' तब गाइड बताता है कि 'कल की खबर में उसे बीस साल की जेल हो गई है.' ये हमारे लिए भी खबर थी कि बाबा को जेल हो गई और मुंबई में ज़मकर बारिश हो रही है. वे दोनों हमारी ओर मुखातिब होते हैं 'इंडिया को क्या हो गया सर? सब बाबा लोग ये क्या कर रहे हैं?'

'बाबा लोग देश का बेड़ा गर्क कर रहे हैं. ' मेरे भी मुंह से निकल गया. पर हम थोड़ी देर में ही इस बेड़ा गर्क से कोहिनूर हीरे के एम्पोरियम में आ गए थे. इसकी इमारत किसी किले के समान है और इसका नाम है 'सागा वर्ड'. इसके अरबी रिसेप्शनिस्ट ने बड़ी नफासत से हमें घुमाया और चंद्रा की ओर देखते हुए कहा कि 'वेलकम विथ योर ब्यूटीफुल वाइफ.' चंद्रा खुश हो गई. अरब देस में जहां महिलाओं में बादामी रंग और बादामी आँखों वाली ड्राइफ़ूड खूबसूरती बसी हुई है वहां भी किसी को खूबसूरती का तमगा मिल गया तब फिर क्या कहने. इस कॉम्प्लिमेंट के कुछ हजार रुपये ज़रूर देने पड़े जब सफ़ेद सोने में हीरे के नग जड़े कान की बालियों को पसंद करना पड़ा. यहां हमने सोने के तीन रंग देखे पीला, गुलाबी और सफ़ेद. अरबी महाशय ने बताया कि 'आपके इंडिया में पीले गोल्ड का चलन है.' अरब देश अपने स्वर्ण और मेवों के लिए प्रसिद्ध है. ये थोड़े सस्ते भी हैं. इसलिए जो यहां आता है इनमें से कुछ लेते जाता है.

हम ओमान की खाड़ी में बने 'पाम आइलैंड' पर आ गए थे जो आधुनिक नगरन्यास की दृष्टि से अभी दुबई का नया और ताज़ा बसा नगर है. यह गाइड बताता है 'सर.. इस आइलैंड को हेलीकाप्टर में चढ़कर देखने से यह इलाका खजूर के पेड़ की तरह दिखता है. समझ लीजिए हम जिस सड़क पर चल रहे हैं वो खजूर पेड़ के मुख्य तने की तरह दिखता है और सड़क के आजू बाजू बने मकान पेड़ के पत्तों व खजूर के गुच्छों के समान दिखते हैं.' एक बड़ा होटल अटलांटिस इससे लगा हुआ है जिसके दो तले

रेतों के तहखाने में हैं. गाइड कहता है कि 'इसमें पन्द्रह सौ अपार्टमेंट हैं और जिनमें कुछ का किराया एक दिन का बाईस लाख रूपयों तक है.' ऐसी जगहों पर बस तस्वीर ही उतरवाई जा सकती है और ये काम मैंने सपत्नीक मुश्तैदी से कर लिया क्योंकि इसके लिए गाइड तो मुश्तैद था ही.

हम जब वाहन से बाहर निकलते तभी सूरज की तपिश का पता चलता. वरना मोटर गाड़ी, होटल, दुकानों सहित सारे भवन वातानुकूलित हैं. यहां तक चाय-नाश्ते की गुमठियों में भी ए.सी. लगे हुए हैं. भ्रमण के निर्धारित समय या तो सुबह के हैं या शाम के. दिन होटलों के भीतर, रातें रजाई में. गाइड कहता है 'ये जुमेराह बीच है सर.. देख आइये.' मुंबई में अरब सागर का पानी नीला है पर अरब में ओमान की खाड़ी का पानी हरा दिखता है. रेतें मुलायम और गुदगुदी हैं. सुबह के ग्यारह बजे हैं पर गर्मी के कारण ज्यादा देर खड़ा नहीं हुआ जा सकता. यह अनुभव भी पहली बार हुआ कि सूर्य की तेज किरणों के कारण मोबाइल कैमरे से कुछ दिखता नहीं. केवल अनुमान लगाकर ही फोटोग्राफी की जा सकती है. ली गई तस्वीरें छाया में आ जाने के बाद देखने पर दिखाई देती हैं कि उतारी गई तस्वीरों में सचमुच जुमेराह बीच बहुत खूबसूरत है. कुछ विदेशी नहा रहे थे तो लगा कि पानी ज्यादा गरम नहीं हुआ है. हमने कुछ कदम अंदर डाले थे तो पानी ठंडा था. संभवतः हवा की ज्यादा नमी ने इन्हें सूरज के ताप से बचा लिया था.

गाइड ने हमें होटल में उतारते हुए कहा कि 'सर! शाम पांच बजे बुर्ज खलीफा और दुबई माल के लिए आप लोग तैयार रहें. आपके पैकेज में नहीं है पर आप सोचिये भला कि यहां से कोई आगरा जाए और ताजमहल देखे बिना आ जाए तो उसे आप क्या कहेंगे? ऐसा कुछ आपके साथ न हो जाए. बुर्ज खलीफा दुनिया का सबसे ऊँचा जानदार टावर है और उसका टिकट अभी से बुक करना पड़ेगा.' हमने तुरंत उसे आनलाईन बुक करने के लिए चार सौ दिरहम यानी सात हजार रुपये देकर बुर्ज में चढ़ने के लिए अपना जोश दिखा दिया था.

'हम दुबई की आकांक्षाओं के प्रतीक एक सौ अड़सठ मंजिल के टावर बुर्ज खलीफा को देखने जा रहे हैं. इसके लिए दुबई माल के भीतर से रास्ता खुलता है. दुबई माल दुनिया का कुछ बड़े शॉपिंग मालों में से एक है. भीतर घुसते ही लगता है टाइटेनिक जैसे किसी विशाल जलपोत के भीतर आ गए हैं. इसके

विशाल फिश एकीरियम में तो बोगदे बने हुए हैं। अंडरवाटर जू हैं। इनके भीतर घुसकर देखना एक नया अनुभव है। माल में घूमते हुए थक जाने वालों के लिए आरामदेह बैठक व्यवस्था हर जगह है। जहां मैं और चंद्रा बैठकर कुछ खाया करते थे। अपनी साठ बरस की काया को सुस्ताया करते थे। देश में अपने परिजनों रिश्तेदारों से मोबाइल पर बातें कर उन्हें परदेस में सुरक्षित होने व हमारी चिंता न करने को आश्वस्त किया करते थे। लौटते समय रात ग्यारह बजे एक रेस्तरां में हम दो बुजुर्गों को खाते देखकर एक भारतीय नौजवान ने अचंभित होकर पूछा था 'बस आप दोनों ही इंडिया से यहां घूमने आए हैं? वंडरफुल!' पर दुबई भी वंडरफुल। ड्राइवर रेस्तरां में हमें उतारकर जा चुका था और हम पति-पत्नी रात बारह बजे एक किलोमीटर पैदल चलते हुए अपने होटल आ गए थे।

जाने से पहले हमने घड़ी देखी स्थानीय समय के अनुसार शाम के सात बजे रहे थे हमें ड्राइवर सईद अहमद के कहे अनुसार बुर्ज खलीफा के प्रवेशद्वार पर सात बजे तक पहुँच जाना था अन्यथा सात बजे के बाद प्रवेश नहीं मिलता। हमने आठ अरब डालर से बने टावर में टिकट दिखाकर प्रवेश पा लिया था। दुबई में भी हास्पिटैलिटी व कैटरिंग जैसी सेवाओं पर थाईलैंड की आकर्षक युवतियों ने स्थान पा लिया है और एयरपोर्ट, होटल व सभी पर्यटन स्थलों में वे अपने सलीकेदार सेवाओं की छाप छोड़ रही हैं। इन्हें रोजगार दिलाने के लिए थाईलैंड की अन्तराष्ट्रीय एजेंसियां काम करती हैं।

हम आठ सौ अट्वाइस मीटर ऊँची इस दुनिया की सबसे ऊँची इमारत में चले जा रहे हैं जिसे फक्त छह बरस में बना लिया गया था। इसका लोकार्पण २०१० में हुआ था। इसके लंबे गलियारे में कई वृत्त फ़िल्में चल रही हैं जिनमें बुर्ज सम्बन्धी जानकारीयाँ प्रसारित की जा रही हैं। इसमें विज्ञान केन्द्र, तैराकी का स्थान, खरीदारी की व्यवस्था, दफ़्तर, सिनेमाघर सहित सारी सुविधाएँ मौजूद हैं। इसकी ७६ वीं मंजिल पर एक मस्जिद भी बनायी गयी है। कहते हैं यह लगभग १०० किलोमीटर दूर तक दिखाई दे जाती है। इसमें लगायी गयी लिफ्ट दुनिया की सबसे तेज़ चलने वाली लिफ्ट है। पिछले साल २६ जनवरी के मौके पर दुबई में भी तिरंगा नजर आया था और बुर्ज खलीफा तिरंगे के रंगों में रंगी दिखी थी। अबुधाबी के राजकुमार और यूएई के सशस्त्र बलों के उप सुप्रीम कमांडर शेख मोहम्मद बिन जायेद अल नहयान दिल्ली

गणतंत्र दिवस समारोह के मुख्य मेहमान थे। इसी सम्मान में बुर्ज खलीफा को तिरंगे के रंगों से रोशन किया गया था। पहली बार परेड में संयुक्त अरब अमीरात के जवानों का दस्ता हमारी सेना के जवानों के साथ परेड की अगुवाई करता नजर आया था। यह दो देशों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का पेशेवर लेकिन अनमोल हिस्सा था।

हम लिफ्ट के पास पहुंचकर पंक्तिबद्ध हो गए थे। लिफ्ट का दरवाज़ा बंद करते हुए बाहर खड़े अधिकारी ने कहा कि 'अब आप लोग एक मिनट में १२५ वीं मंजिल पर पहुँच जाएंगे।' तेज गति के कारण हमारे कानों में हल्की सनसनाहट हुई थी और भीतर लगे टाइम क्लाक में हमने देखा कि ठीक साठ सेकण्ड बाद दरवाज़ा खुला था और हम उस अवलोकन डैक पर आ गए थे जहां से दुबई का रात्रिकालीन नज़ारा देखा जा सकता था। लगा हम किसी शहर में नहीं बल्कि तारामंडल में हैं। अदभुत और कल्पना से परे रंगीन झिलमिल सौंदर्य हमारे सामने उपस्थित था। यह दुबई थी जो अपने स्वर्णाभूषणों के लिए प्रसिद्ध है। यहां वह खुद सोने के गहनों से अलंकृत हमारे सामने खड़ी थी अपनी स्वर्णिम चकाचौंध के साथ। जैसे कोई सोलह शृंगार किए दुल्हन खड़ी हो। घंटे भर में सैकड़ों स्नेप देशी-विदेशी सैलानियों ने अपने अपने कैमरों से ले लिए थे फिर भी इस अप्रतिम सौंदर्य के छायांकन की प्यास बुझ नहीं रही थी। बुर्ज के १२६ वें माले पर झूले लगे थे। पत्नी चंद्रा झूल रही थी और मैं उसे झूला रहा था। नीचे विराट फाउंटेन-शो के रंगीन फौवारों की संगीतमय फुहारें हमारे हृदय-पटल को छू रही थीं। इस देश की सांस्कृतिक थाती से निकली अरबी के गीत ने रोमान की दुनियां को जगा दिया था। यह एक दुर्लभ योग था जो इस जीवन में न जाने अब फिर कब आवेगा?

जब हम बुर्ज से बाहर निकलकर बस स्टॉपेज नंबर-दो में छोड़े अपने वाहन व चालक को खोजते हुए विशाल कंक्रीट के जंगल में भटक गए थे तब अबाया पहने एक शेख ने मेरे कंधों पर हाथ रखकर और हाथ पकड़कर हमें सही रास्ता सुझाया था।

दूसरे दिन शाम को दुबई से साठ किलोमीटर दूर एक रेगिस्तानी गांव की ओर हम चल पड़े थे। रास्ते में ओमान की खाड़ी में दिखता समुद्र का एक छोटा टुकड़ा खत्म हुआ और रेत का समंदर शुरू हुआ। ऐसे रेगिस्तान में बीचोंबीच चौड़ी सडक बना दी गई है। तब लाल-पीले होते रेतों के ढूँह पीछे होते जा रहे थे।

थोड़ी देर बाद एक 'बदायेर' नाम की बस्ती आ गई थी. रेगिस्तान की सबसे बड़ी पहचान ऊंट दिखने लगे थे. यहां से शुरू होते हैं डेजर्ट सफारी के रोमांचक खेल. रेत में झूम झूम कर चलाने के लिए छोटे ट्रैक्टर जैसा चार चक्कों वाला 'क्वाड' है. गेयर स्वचालित है इसलिए इसे चलाना आसान है. किराया डेढ़-सौ दिरहम यानि सत्ताइस सौ रुपये. हम सवार हुए तो इसके मालिक ने तस्वीर उतारते हुए कहा 'वाह! क्या लग रहे हैं साब आप दोनों. जैसे किसी फिल्म के टीनेजर सितारे हों जो घर से भागे हुए प्रेमी युगल हों.'

इसे हुड हुड कर दौड़ाने के बाद हम फिर अपने लैंड-क्रूसेडर में जा बैठते हैं. ड्राइवर ने सबके हाथों में झिल्ली पकड़ा दी ये कहते हुए 'किसी को उल्टी हो जाए तो इसका उपयोग करें.' हम चौंक पड़े. उसके बाद गाड़ियों का काफिला दूर रेगिस्तान में चला जाता है. इसके उतार चढ़ाव वाले हिस्सों में लैंड-क्रूसेडर को जितना हो सके दौड़ाया जाता है, रेत की ढूँहों में गाड़ी को तेज रफ़्तार में चढ़ा दिया जाता है. लगता है कि गाड़ी अब गिरी तब गिरी, और उसके भीतर बैठे सैलानी भय और आनंद के बीच हिलोरे मारते रहते हैं. वे आपस में टकराते हैं और उत्तेजना में कभी चीखने तो कभी हंसने लग जाते हैं. एक जगह गाड़ी पंचर हो गई तब नीचे उतरकर देखे थे इसके मरू-वैभव को, रेत के भरपूर समंदर और दरिया को. रेगिस्तान के वीराने सौंदर्य को जहां चल रही हवा में उसका मीठा सुर था. हमने इस मिले हुए मौके का फायदा उठाया और प्रकृति के इस अनमोल रूप को अपने कैमरे में कैद कर लिया. मैंने पहली बार सेल्फी ली थी चंद्रा के साथ एक फोटो और एक विडियो जो सोशल मीडिया पर वाइरल हुई थी.

इस रोमांचक यात्रा को पूरी कर लैंड क्रूसेडर इस रेगिस्तान को पार कर फिर पक्की सड़क पर आ जाती है और एक प्रदर्शनी स्थल पर आ रुकती है. हिप्पीनुमा बालों वाला ड्राइवर-कम-गाइड बताता है कि 'यहां गीत-संगीत-नृत्य के कार्यक्रम के बाद डिनर है.' जाते ही सब वेज-नानवेज के नाश्ते पर टूट पड़ते हैं. अगर कहीं देने वाले ने बताया नहीं तो अंतर नहीं दिखता. नाश्ते की दोनों प्लेटें एक समान दिखती हैं. एक समान रूप के दिखने वाले व्यंजनों में एक में शाकाहार भरा होता है और दूसरे में मांसाहार. चाय काफी व शीतल पेय थे. माइक पर एनाउंस भी हुआ था कि 'हज़ार रूपए पैग में व्हिस्की भी मिलेगी. दो पैग लेने वालों के लिए एक पैग की छूट यानि दो हज़ार में तीन पैग.'

बांस और टट्टों की सजावट से बना यह स्थान है. यहां मंच के चारों ओर ज़मीन में गद्दे तकिए बिछे हैं और छोटी मेज लगी हुई हैं. सब अपने खाने पीने का समान लेकर यहां गद्दों पर बैठ जाते हैं और उसके बाद रूसी, अरबी और अग्नि नृत्य एक के बाद एक दिखाए जाते हैं. झनझनाते संगीत की ताल पर वैसे ही फडकते नृत्य हैं. खूबसूरत रूसी नृत्यांगना अपने उत्तेजक लिबास में नृत्य कर लोगों को रिझाती हैं. कितने ही नौजवान व कुछ प्रौढ़ जनों को अपने साथ नाचने के लिए ललचाती हैं. उनकी कमीज़ को ऊपर चढ़वाकर उन्हें नचाती हैं. उसके बाद मिश्र देश का 'तनूरा नृत्य' है जिसका नर्तक रेगिस्तान के कबीले नुमा वस्त्रों को पहने हुए है वह चकरी की तरह निरंतर घूमते हुए नृत्य करता है. अंत में एक कलाकार आग के गोलों को लेकर एक साहसिक नृत्य करता है. इन नर्तकों ने दर्शकों को मरूस्थल में आनंदमय कर दिया था. वीरान मरूस्थल में पर्यटन के नए रंग भर दिए थे जैसे मिल गया हो रेगिस्तान में नखलिस्तान.

बॉटन टूर्स की गाड़ी जब भी हमें लेने आती है उसके ड्राइवर बदले हुए होते हैं. इस बार सईद अहमद है जो पाकिस्तान पेशावर का है और ज्यादा जोश से भरा हुआ पर सलीका पसंद इन्सान है. सईद ने हमें ओमान की खाड़ी पर चलने वाले क्रूज में भी पहुँचाया था. जहां डिनर पर हमें अरबियों के पसंद का एक व्यंजन खाने को मिला था जो ब्रेड से बना खीर था. दुबई का यह इलाका 'डैरा' कहलाता है. यह मछेरों और नाविकों का डैरा है. फारस की खाड़ी का बैकवाटर शांत पड़ा रहता है. उसे अपने किनारों पर तूफ़ान लाने या पास बसे आबादी में उथलपुथल मचाने की कोई ज़ल्दी नहीं होती. उथलपुथल है तो इसके धंधे और बाज़ार में. डैरा आते जाते हुए हमने देखा कि यह केवल मछुआरों का डैरा नहीं बल्कि सुनारों का भी डैरा है यहाँ स्थित गोल्ड सूक दुबई का गोल्ड बेचने और खरीदने का सबसे बड़ा बाजार है. इन बाज़ारों को भी किसी पर्यटन स्थल की तरह आकर्षक बना दिया गया है. दुबई क्रीक (संकरी खाड़ी) एक प्राकृतिक पानी का श्रोत है जो बड़ी खूबसूरती से दुबई शहर को दो हिस्सों में बांटता है, मोटे तौर पर आज हम इसे नए और पुराने दुबई के नाम से जानते हैं, एक तरफ है डैरा-दुबई और दूसरी तरफ है बर-दुबई. दोनों किनारों में आपको दिखेगा कि कैसे दुबई ने वक़्त के साथ तरक्की की है और इस तरक्की के हम पांच दिनों से साक्षी रहे हैं क्योंकि बर दुबई और डैरा के बीच में हमारा

यात्रा-वृत्तान्त

होटल है होटल इम्पीरियल सुइट्स.

हम रोज सुबह पहला काम अपने होटल में नाश्ते का करते जो बेहद लजीज होते खासकर इनके मछली, मुर्गों, अण्डों से बने व्यंजन. ठंडे गोश्त की बनी रोटियां भी यहां पहली बार दिखीं. ब्रेड व पीजा-बरगर थे. हम दूध में कार्नफ्लेक्स रोज खाते. दूध बिना शक्कर के मीठे थे. पूछ नहीं पाए कि ये गाय-भैंस के दूध है या ऊंटनी के. अपने खाली वक्त में हम होटल से बाहर निकलकर घूमते. इस रोलां स्ट्रीट में कहीं कहीं बनी भारतीय पाकिस्तानी गुमठियों में भी चाय-काफी पीने व नाश्ते करने का आनंद उठाते थे. भारतीय गुमठी मलयाली भाइयों की है तो पाकिस्तानी गुमठी पख्तूनी मुसलमानों की है. यहां तीन भाई बस रोटी बनाने में भिड़े रहते हैं इनमें पराठे, आलूपराठे, रूमाली रोटी की लज़्जतदार रोटियां हैं जो पार्सल कर दी जाती हैं. हमारे होटल के वेटर कासिम ने कहा था कि 'कभी उनकी रोटियां लाकर खाइए जनाब और फिर बताइए.' हमने बताया कि 'अरे मज़ा आ गया उस्ताद उन पख्तूनों की रोटियां चबाने में.'

मलयाली गुमठी में ज्यादातर मेहनतकश भारतीय पाकिस्तानी वहां साम्भर उपमा खाते और काफी पीते बतियाते मिलते. मुझे गुमठी में सपत्नीक आता देख वे मलयाली भद्रता के साथ कुर्सी खाली कर देते और तुरत-फुरत अपनी सेवा देने में जुट जाते. हम रोज एक बार वहां नीम की छाँव के नीचे उनकी चौपाल में बैठकर चाय की चुस्कियां लगा आते, लगे हाथ उनके साथ गपिया आते थे.

आज हमारी यात्रा का आखिरी दिन था. होटल में चेक-आउट दोपहर बारह बजे का था और आज इस मुस्लिम बहुल देश में 'ईद' का त्यौहार था. होटल के मालिक भी मुसलमान थे. नाश्ता करने हम जैसे ही कक्ष में घुसे होटल स्टाफ ने ज़बरदस्त गरमजोशी से हमें ईद की मुबारकबाद दी और हमें गले लगा लिया. चंद्रा से भी कुछ लोगों ने हाथ मिलाए. गोवा से यहां खाने कमाने आए नवजवान वेटर 'ज़हूरबक्श' ने हमें प्लेटें हाथ में थमाकर लजीज व्यंजनों को परोसते हुए अपनी मेजबानी साबित की. उसने होटल रिसेप्शनिस्ट से हमारे चेक-आउट को दो घंटे बढ़वा कर हमें और आराम पहुँचाया. हमारी दिल्ली फ्लाइट रात दस बजे थी और हमें चेक-आउट कर सामान होटल के क्लाइंट-रूम में रखकर शेष समय होटल के रिसेप्शन हाल में ही काटना था. बॉटम ट्रेवलर्स की ज़िम्मेदारी पूरी हो चुकी थी. तब ज़हूर ने

ही आज के शेष बचे समय का सदुपयोग करने के लिए हमें रास्ता सुझाया था और हम होटल से बाहर सड़क पर आ गए थे.

बर-दुबई यानि पुरानी दुबई का यह अल-फहीदी स्ट्रीट और इसके आसपास का पूरा इलाका प्रवासी-भारतीयों का इलाका है. हम पैदल चले जा रहे थे तब हमें ऐसे मध्यमवर्गीय मकान भी दिखने लगे थे जिनकी छतों आंगनों में हमारे देशी घरों की तरह धुले कपड़े सूख रहे थे. इन मकानों की गृहणिशां नहाकर अपने बाल सुखाते खडीं थीं और अपनी ही तरह की एक गृहिणी को मेरे साथ चलते देखकर वे चंद्रा को सहेलीपन से देख रही थीं. इस सड़क पर हम किसी बाज़ार का रास्ता पूछते हैं तब जवाब मिलता है 'आप एक किलोमीटर निकल जाइए आगे मीनाबाजार मिलेगा और वहां सारे भारतीय खानपान वाले रेस्तरां व गुमठियां मिलेंगी.' और सचमुच यह बड़ा गुलज़ार बाज़ार अपनेपन से भरा मिला. इतने बड़े बाज़ार में दुकानदारों द्वारा एक इंच भी अतिक्रमण कहीं नज़र नहीं आता. ए.टी.एम.मशीनें भी बिना केबिन के खुली दीवारों पर चिपकी हुई हैं. यहां 'डे टू डे शॉप', वन टू टेन दिरहम या टू टू टूट्टी दिरहम जैसे नामों वाली किफायती दुकानें हैं. इनमें भारतीय परिवारों की ज़रूरत के हिसाब से कपड़े, जूते, खिलौने व हर तरह के फैंसी सामान सस्ते दामों में मिल जाते हैं.' खरीदारी करते समय थक कर चंद्रा ने यहां एक गुमठी में दही-कचौड़ी भी खा लिया था.

मीनाबाज़ार पुरानी दुबई के एक गांव 'बस्ताकिया' से जुड़ा हुआ है. हमें इस गांव को देखने की तीव्र इच्छा हुई. एक राहगीर ने रास्ता बताया 'आगे दुबई मुजियम है जिसमें बस्ताकिया गांव की जिन्दगी को कई बुतों (मूर्तियों) के ज़रिए दिखाया गया है. उसके आगे बस्ताकिया गाँव है.' हमारे सामने यहां की पारंपरिक फारसी भवन निर्माण शैली का सौंदर्य पसरा पड़ा है. रेत और मिट्टी से बनी हुई इनकी प्राचीर हैं. भवनों में रोशनदान खूब हैं और इनमें प्राकृतिक हवाओं को शुद्ध और ठंडी करके भीतर भेजने के लिए विंड टावर बने हुए हैं. इससे इन मकानों में शीतलता बनी रहती है. सत्रहवीं सदी में यहां ऐसे साठ मकान थे जिनमें उस समय के अमीर रहा करते थे. जब तेल के कुँवें मिलने लगे तब ये अमीरज़ादे नए आधुनिक बन रहे शहरों की ओर दिन-ब-दिन कूच करने लगे. फिर इसे आधी सदी पहले पूरी तरह नष्ट कर जब नया शहर बसाने के लिए एक ब्रिटिश शिल्पकार को बुलाया गया तब उसने दुबई वासियों को समझाया कि इस फारसी शैली की

धरोहर को बचा कर रखना चाहिए और उसी तरह से फिर से बसाया जाना चाहिए. इसके लिए ब्रिटेन से प्रिंस चार्ल्स भी उन्हें समझने आए कि जितना संभव हो इन्हें पूर्व रूप में बनाकर रखा जाए. अब यह बस्ताकिया दुबई के अतीत को झांकने के लिए एक दुर्लभ पर्यटन स्थल बन गया है. इन ग्रामीण ढांग के भवनों के बीच गांव जैसी संकरी गलियां हैं, कई हस्तशिल्प कला की दुकानें हैं, बाग-बगीचे हैं, काफ़ीहाउस व जलपान केन्द्र हैं. अंधेरा होते ही यहां प्रकाश व्यवस्था ऐसी रखी गई है कि ये मकान स्वर्णिम आभा से युक्त हो जाते हैं जैसे हम किसी ऐसे सोने की पहाड़ियों और खदानों को देख रहे हों जिन पर अल्सुबह सूरज की किरणें पड़ रही हों.. बस्ताकिया को देखना एक विलक्षण अनुभव है.

दुबई अपनी समृद्धि की ऊंचाई को देख चुका है पर ड्राइवर सईद अहमद कहता है 'लेकिन दुबई को हर बात में नंबर वन होना है सर.. चाहे बुर्ज बनाने के नाम पर हो या विकास के किसी भी माडल के नाम पर. दुबई अपनी तुलना केवल न्यूयॉर्क से करता है, न्यूयॉर्क की तरह यहां राइट-हैंड ड्राइव भी है.' तब क्या होगा जब अमेरिका उस पर आतंकवादियों को फंडिंग करने का आरोप लगाकर उसके तेल बेचने के धंधे को बट्टा लगाएगा और ईरान से तेल खरीदेगा. होटल के एक वेटर ने हमें भी चौंकाया था कि 'आप लोग डी-ग्रुप के होटल में रुके हैं यानि दाउद ग्रुप के.'

आई.एम.एफ. ने दुबई में रिपोर्ट जारी करते हुए बता दिया है कि क्षेत्र के तेल निर्यातकों के लिए, गिरती कीमतों से राजस्व का नुकसान हो रहा है। यही हाल छह सदस्यीय खाड़ी सहयोग परिषद (जीसीसी) में शामिल ओमान और बहरीन का भी है। हालांकि कुवैत, कतर और यूएई जैसे देशों की हालत सऊदी अरब के मुकाबले खासी बेहतर है पर अब इनकी कंपनियों में नौकरियों को लेकर बाहरी लोगों में असुरक्षा की भावना घर कर रही है. अब प्रबंधक जैसे सारे पदों में स्थानीय लोगों का बोलबाला होगा. अब इनकी जनानां भी ऊँची तामिल हासिल कर बुर्का उठाकर काम पर

जाने को तैयार बैठी हैं और बुर्का पहनकर हवाई जहाज उड़ाने को आमदा हैं. अब ऊपर दो चांद होंगे – एक आसमान में कहीं और दूसरा बुर्के के भीतर.

दुबई में हिंदी बोलने का चलन उतना ही है जितना हमारे देश में मुंबई कोलकाता में है. हिंदी बोलने के मामले में दुबई दक्षिण भारत के शहरों से आगे है. अपने पांच दिनों के दुबई प्रवास में हमने विमानतल कर्मचारी, टैक्सी चालक, गाइड, होटल कर्मी, दुकानदार सभी को धड़ले से हिंदी बोलते पाया है. यहां पाकिस्तान, बांग्लादेश और नेपाल के लोगों की संख्या भी कम नहीं है. हिन्दी का चलन इतना अधिक है कि दुबई में काम करने वाले अरबी अधिकारी कर्मचारी भी हिंदी बोल लेते हैं और वहां रहने वाले भारतीय तो फिर अरबी पूरी तरह बोल लेते हैं. दुबई में हम जिन्हें हिंदी कहते हैं वह हिंदी होने के साथ साथ उर्दू भी है. यहां अन्तराष्ट्रीय हिन्दी सम्मलेन के आयोजन भी होते रहते हैं. हमारे प्रधानमंत्री विदेशों में होने वाली सार्वजनिक सभाओं में लगातार हिंदी में भाषण बोलते हुए दिख रहे हैं. पिछले दिनों एक सम्मलेन में शामिल होने जब मोदी जी दुबई आए थे तब दुबई के क्रिकेट स्टेडियम में उन्होंने हजारों की जनसभा को हिंदी में संबोधित किया था.

दुबई से लौटते समय विमानतल के जाँच अधिकारी ने मेरे पासपोर्ट को देखा और अचानक पृष्ठ बैठे 'विनोद.. कैसे हैं?' यह एक आनंददायक विदाई थी. हम ओमान की खाड़ी में हिंदी बोलते हुए पहुंचे थे, हिन्दी में बतियाते हुए घूमे फिरे और हिन्दी बोलते हुए अपने देश लौट रहे हैं. यह अंग्रेजी की तरह हिन्दी का उपनिवेशवादी रूप नहीं बल्कि जनधर्मी रूप है. हिन्दी किसी भी देश के लोकतंत्रीकरण का और भी विस्तार करती है. आज ईद थी. विमान से दुबई की ईद का चांद दिख रहा था. चंद्रा ने उसे कैमरे में भर लिया और अब यह चांद चंद्रा के हैंडबैग में जा समाया था.

विनोद साव, मुक्तनगर, दुर्ग ४९१००१ मो. ९००९८८४०१४

बढ़ई, कुम्हार और कवि

एकान्त श्रीवास्तव

कवि नरेंद्र जैन की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ मेरे शब्दों में इस तरह हैं कि 'मैंने बढ़ई को कुर्सी बनाते देखा/और उसका कायल हुआ/मैंने जाना/कि बढ़ई का काम/कविता लिखने से अधिक कठिन है।' बरसों पहले मैंने कभी कहीं इन पंक्तियों को पढ़ा और कभी भूला नहीं। बस सोचता रह गया, जैसे किसी ने मेरी बात कह दी हो। कभी-कभी बात (यानी काव्यवस्तु) कविता से बड़ी हो जाती है। मेरा मतलब है, काव्य-भाषा और कला से बड़ी हो जाती है जैसे स्वतंत्रता संग्राम के दौरान राष्ट्रीय काव्य-धारा के कवियों की कविताएँ हैं। कला वहाँ भी थी लेकिन उद्देश्य वह नहीं था। कोई-कोई काव्य वस्तु-शिल्प और भाषा के परिधान ऐसे झाड़ देती है, उतारकर अलग रख देती है, जैसे पतझड़ में वृक्ष सारे पत्ते झाड़कर पत्रहीन हो जाता है। और जो बचता है, जो पेड़ की काया है, वही सच है। उसे स्वीकार करने के सिवा कोई चारा नहीं। कभी-कभी कविता की काया में वस्तु इतनी प्रधान हो जाती है कि अपने प्रभाव में थोड़ी देर के लिए अन्य आवश्यक काव्य-उपादानों को ढक देती है लेकिन ऐसा हर बार और हमेशा नहीं होता। कला की जरूरत और उसकी स्थायी महत्ता बनी और बची रहती है। तो नरेंद्र जैन की उपर्युक्त पंक्तियों ने मुझे हतप्रभ किया। आप बढ़ई को देखिए, वह पेड़ों का देहाती विशेषज्ञ है, किस लकड़ी का रंग पक्की भूमि/फ्लोर या फर्श से नहीं निकलता और पत्थर को भी रंग लेता है, वह जानता है। खम्हार, शीशम की हलकी इमारती लकड़ियों के गुण वह पहचानता है और बीजा, बबूल की लकड़ियों को बैलगाड़ी जैसे गँवई वाहन के लिए उपयुक्त समझता है। वही यह जानता है कि शीशम की छाल उधेड़ते ही कैसे मनुष्यों जैसा रक्त उभर आता है। वह पेड़ का वध नहीं करता है। उसे एक जन्म देता है, पुनर्जन्म। यह एक पेड़ का कायाकल्प है कि वह किवाड़ बनकर हमारे घरों में लगा है। बढ़ई जानता है कि काठ के भीतर जंगल का स्वप्न है और उसका हरा खून भी-दौड़ता हुआ-क्या यह पेड़ की सामाजिक परिणति नहीं है। रचनाकार भी भाषा का वधिक नहीं है। वह भी उसे एक ढब देता है, एक संस्कार, एक जन्म, पुनर्जन्म- उसके बाद जो चीज तैयार हुई है, वह उसकी रचना है-भाषा के सामाजिक मैदान में यह रचना का पेड़ है-उगा हुआ, हरा-भरा, पुष्पित, फलों और परिंदों से भरा हुआ-यह समाज के लिए उगा है-बावजूद इसके, वह रचनाकार की निजी मिल्कियत भी हैं।

बढ़ई यदि पेड़ों का देहाती विशेषज्ञ है तो कुम्हार मिट्टी का। वह मिट्टी के अनेक प्रकारों को जानता है-कन्हार मिट्टी, काली मिट्टी, मुरुम मिट्टी या लाल मिट्टी, छुही यानी सफेद मिट्टी, बलुआ

मिट्टी पीली मिट्टी जिससे गाँव में मिट्टी के घरों की पुताई की जाती है। कुम्हार जाना है कि मिट्टी के बर्तनों के लिए कौन-सी मिट्टी उपयुक्त है। यह भी कि कुम्हार मिट्टी के बने घरों में देर-सबेर दरारें पड़ जाती हैं। छत्तीसगढ़ में एक मुडमिंजनी मिट्टी होती है-इसे तालाब की चिकनी मिट्टी भी कहते हैं जिससे सिर धोया जाता है। मैं कहना चाहता हूँ कि कवि का प्रवेश सभ्यता में बहुत बाद में हुआ लेकिन बढ़ई और कुम्हार तो सभ्यता के आदिम कवि हैं जो युगों से काठ और मिट्टी की कविता गाए जा रहे हैं। उनकी कविता काठ और मिट्टी पर लिखी हुई कविता है। ठीक यहीं एक कृषक को याद कीजिए जो खेतों में हल के फाल से जाने कितनी कविताएँ लिख-लिखकर बो देता है-बीज रुप में-जो एक दिन अन्न में बदल जाती हैं। क्या यह किसान की कविता की सामाजिक परिणति नहीं है। बीहड़ रास्तों पर चलने का स्वप्न देखने वाली आँखों से वे पाँव अधिक महान हैं जो बीहड़ में चलते हैं और रास्ते बनाते हैं। रचना यदि स्वप्न है तो इस स्वप्न को क्रियान्वित करने वाले हाथ प्रायः दूसरे हैं।

इन आदिम कवियों को भूलकर, इनके जनपदों को भूलकर जब कोई आधुनिक कवि कविता लिखता है तो मैं उसकी कविता को संदेह से देखता हूँ। मैं यह नहीं कह रहा कि ये ही उसके स्थायी काव्य-विषय बन जाएँ और काव्य-प्रयत्न एकरस हो जाए। घूमती हुई धरती की तरह काव्य-विषयों को भी घूमते रहना चाहिए। दिन-रात और ऋतुओं की तरह बदलते रहना चाहिए लेकिन धुरी को नहीं छोड़ना चाहिए जैसे धरती घूमती तो है, पर धुरी को नहीं छोड़ती। त्रिलोचन जैसे कवि अभी कल तक हमारे साथ थे और साथ हैं-‘उस जनपद का कवि हूँ जो भूखा-दूखा है। नंगा है। अनजान। कला नहीं जानता’। इसी सच्ची जनता से जुड़कर कविता या कला-जैसा कि लोर्का ने कहा है-स्याही के बनिवस्त खून के अधिक करीब पहुँचती है। और नेरुदा की पंक्ति क्या कभी भुलाई जा सकती है-मैं अक्सर याद करता हूँ-कविता का कोई मतलब नहीं रह जाएगा।

यदि वह ओस की बूंद को बचा न सके।’ मुझे लगता रहता है कि यह ओस की बूंद वही मानवीय तरलता है जिसे हम मनुष्य या संवेदना कहते हैं। इसके बिना किसी रचना या कला का क्या अर्थ है। नेरुदा की ही एक पंक्ति है-‘हम सब बारिश में एक और बारिश हैं। कोई भी सच्ची रचना हमारे

भीतर इस दूसरी बारिश की संभावना को बचाए रखती है। वह उन मेघों को हमारे भीतर एकत्रित करती जाती है जो हमारी साँसों के रास्ते सीने में धीरे-धीरे उतरते रहते हैं। यह बारिश न होती तो हम सब पत्थर या ऊसर होते। कविता, रचना या कला के मार्फत यह बारिश हमारे भीतर बची रहती है और हमारी सभ्यता एक बड़े सूखे से बच जाती है।

बरसों पहले लिखी मेरी एक कविता की पंक्तियाँ हैं-‘अब मैं घर लौटूँगा/इससे पहले/कि मेरी कविताओं के शब्द/मेरे इंतजार में थककर/पंछी बनकर उड़ जाएँ।’ यदि हम गलत रास्ते पर आ गए हैं तो लौटना हर बार कायरता या पलायन नहीं है। रचना को अपने जनपदों की तरफ, अपनी जड़ों की ओर लौटना ही होगा। अन्यथा अपनी अल्पायु की जिम्मेवार वह स्वयं होगी। इसी वापसी से बकौल कवि त्रिलोचन ‘भाषा की लहरों में जीवन की हलचल’ पैदा हो सकती। यहाँ गेटे की प्रसिद्ध बहुउद्धृत पंक्ति को मैं पुनः याद करना चाहूँगा-‘सारे सिद्धांत भूरे पड़ जाते हैं। बस जीवन का वृक्ष हरा है’। कला में जीवन का यह वृक्ष तभी तक हरा रहता है जब तक उसकी जड़ें अपनी धरती के गहरे कुंडों से जीवन-रस ग्रहण करती रहती है। नश्वरता का भय सबसे अधिक मुझे तब अपनी गिरफ्त में लेता है जब मैं किसी पुस्तकालय में होता हूँ-हजारों किताबों के बीच। वहाँ पहुँचकर एक लेखक को अपनी हैसियत पता चलती है। कितनी पुस्तकों को बरसों तक किसी ने छुआ तक नहीं है, खोलकर पढ़ना तो दूर की बात है। जब मैं विशाखापत्तनम में था तो एक बार आंध्र विश्वविद्याय के पुस्तकालय में गया था। लोर्का की पुस्तक-“अ पोयट इन न्यूयॉर्क” की खोज में। वह पुस्तक को केवल तीन बार इश्यू करवाया गया था। तीसरा पाठक मैं स्वयं था। लोर्का जैसे स्पेनी या विदेशी कवि परदेश में यदि पचास वर्षों में तीन बार भी पढ़े गए तो ऐसे कवियों को मैं सार्थक मानता हूँ। ऐसी ही मेरी धारणा चीन के प्रशासक और लोककवि बाई जूई की कवितों के बारे में भी है जो बारह सौ वर्ष पहले लिखी गईं और आज भी कितनी समकालीन और कितना भारतीय लगती हैं। तुलसी, कबीर, निराला, त्रिलोचन तो फिर हमारे यहाँ हैं ही। एक कवि को हमेशा ऐसे कवियों की तरफ देखना चाहिए ताकि उसकी कविताएँ भी जल्द भूरी न पड़ जाएँ।

जंगल

जंगल के बीच में दूसरा जंगल
के बीच तीसरा
के बीच चौथा जंगल
कितने-कितने जंगलों में
हम भटक रहे थे
पर आखेटक नहीं थे
जंगल हमारे पाँवों को
रास्ता देता जाता था

हम रास्ते में झुकी डालियोंको
हटाते हुए आगे बढ़ते थे
हम हरिया रहे थे
पर वृक्ष नहीं थे

कहीं धुआँ उठ रहा था
आग लगी नहीं थी
लगा दी गई थी
यह लोभ-लाभ की अग्नि थी
हम जल रहे थे
पर पत्ते नहीं थे

एक हरा समय था
जहाँ पीले फूल खिले थे
पत्ते बज रहे थे
और एक नदी बह रही थी चुपचाप
हमने अपने पाँव भिगोए
और झुककर चुल्लु से जल पिया
हम बह रहे थे
पर नदी नहीं थी।

अधबना घर

द्वार पर आम के पत्तों का तोरण सजा है
पत्ते अब सूख चके हैं
हवा चलने पर बजते हैं

इस अधबने घर को छोड़कर
बहुत दूर चले गये हैं इसके आधे जन
फिर भी यहाँ दिया-बाती होती है
हवा में नीम के सफेद
और गुलमोहर के लाल फूल झड़ते हैं
झड़े हुए फूलों में
छुपा रहता है काँटा
चलते-चलते अचानक गड़ता है

एक चिट्ठी आती है
और आँगन में पड़ी रह जाती है
एक फोन देर तक बजता रहता है

सपनों ने
इस घर की नींद को मथा है
इस घर के जल में उषा का सिन्दूर पड़ा है
और साँझ का अबीर

आधी रात को कोई पक्षी बोलता है
तो सब उठकर बैठ जाते हैं
खो चुकी पदचापों
और दस्तकों की
प्रतीक्षा करता रहता है यह घर
इन घर के कुएँ में
अब भी बचा है पानी ठण्डा और मीठा
लेकिन किसी बाल्टी के गिरने की आवाज
अब वहाँ सुनाई नहीं देती
दुःख ने इस घर की हवा को मथा है।

समय की शिला पर
हवा का देश

(एक)

यहाँ कितनी हवा है, तेज
गोल-गोल
घूमता है पत्ता चक्रवात में
सब कुछ कितनी तेजी से
उड़ता चला जाता है
सूखा पत्ता, फूल, कागज
दिन, संध्याएँ, रातें और रंग
सपना, वसंत और प्रेम-सबकुछ
गोल-गोल घूमता है भँवर में
कितने ऊपर तक हिलकोरता है
पवन का समुद्र
आकाश का जहाज डगमगाता है
और डूब जाता है।

(दो)

दिन की नाव में
आकाश का पाल फड़फड़ा रहा है
साँझ के तट पर
रंगों की कलशी
उलट गई है
रात की लालटेन में
चाँद का काँच
तड़क गया है
यहाँ कितनी हवा है, तेज।

(तीन)

पवन के चाक पर
दिन का घड़ा घूमता है
खिड़कियों के पल्ले भड़भड़ाते रहते हैं

और ऋतुएँ बिन दस्तक
भीतर चली आती हैं-
तिरछी बौछारों वाला भादों
मध्यम आँच वाला वैशाख
और ओस के
उजले दर्पणों वाला अगहन
वसंत आता है धरती के प्रेम की तरह
प्रेम के चाक पर
हृदय का घड़ा घूमता है।

(चार)

पानी के धागे में धूप के फूल गुंथे हैं
कांतिक की ओस को
अपनी पँखुड़ियों में छुपाये हुए
इनकी पँखुड़ियाँ
टूटकर उड़ती हैं
नाचती हुई गोल-गोल
जैसे करती हों परिक्रमा
काल के प्राचीन गर्भगृह की।

(पाँच)

पंछी केवल पंख खोल देते हैं
जहाँ तक जाती हैं हवाएँ
उड़ान उनकी वहाँ तक
इतनी तेज हवा में
वे बसेरा नहीं कर सकते कहीं
उन्हें घोंसला नहीं बाँधने देता
हवा का यह देश

ऋतुएँ उनका घोंसला बनाएँगी
किरण के तिनकों से
दिन के तरु पर
जब साँझ का रंग गिरेगा।

शुरुआत

सुबह को इस तरह देखो
जैसे वह आज ही हुई हो
इस धरती पर
हवा को इस तरह अनुभव करो
जैसे वह आज ही बह रही हो
तुम्हें छूते हुए
और जो गीली क्यारी में लिखे हैं
रजनीगंधा के फूल
उन्हें धरती ने उगाया है बस तुम्हारे लिए
वह पत्ता जो गोल-गोल हवा में

थिरक रहा है

यह तितली जो तुम्हारे कंधे पर आकर
बैठ गई है

और यह नदी जिसके तट पर
पहुंच सके तुम आज
अपनी कल-कल ध्वनि से
बस तुम्हें पुकार रही थी
इन सुदूर जंगलों में

इस तरह पुराने पड़ते जाते जीवन की
एक नई शुरुआत करो
किसी प्राचीन पाण्डुलिपि के नए पाठ की तरह।

परिचय

- जन्म** : ०८ फरवरी १९६४ (हिंदी), एम.एड., पी-एच.डी.
- कृतियाँ** : 'अन्न हैं मेरे शब्द' (कविता-संग्रह) १९९४, 'मिट्टी से कहाँ धन्यवाद' (कविता-संग्रह) २०००, 'बीज से फूल तक' (कविता-संग्रह) २००३, 'मेरे दिन मेरे वर्ष' (स्मृति कथा) २००९, 'नागकेसर का देश यह' (लम्बी कविता) २००९, 'बढ़ई, कुम्हार और कवि' (आलोचना) २०१३, 'पानी भीतर फूल' (उपन्यास) २०१३, 'धरती अधखिला फूल है' (कविता-संग्रह) २०१३, 'चल हंसा वा देश' (यात्रा निबंध) २०१५, 'कवि ने कहा' (चुनी हुई कविताएँ) २०१६
- अनुवाद** : कविताएँ अंग्रेजी व कुछ भारतीय भाषाओं में अनूदित। लोर्का, नाजिम हिक्मत और कुछ दक्षिण अफ्रीकी कवियों की कविताओं का अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद।
- सम्पादन** : नवम्बर २००६ से दिसम्बर २००८ तक तथा जनवरी २०११ से जून २०१७ तक लगभग नौ वर्षों तक 'वागर्थ' के १०४ अंकों का सम्पादन।
- यात्रा** : उजबेकिस्तान, इंग्लैण्ड, नीदरलैण्ड, बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, इटली, वैटिकन सिटी, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों की यात्राएँ।
- सम्पर्क** : ४८/१८/सी, साउथ सिथी रोड, कोलकाता-७०० ०५०, मो. ९४३३१३५३६५
Email : shrivastava.ekant@gmail.com

जहीर कुरेशी

गजल

(एक)

रेत पर नाव चलाते हैं, चलाने वाले,
गुनगुनाने में ही गा लेते हैं, गाने वाले।

‘जागते रहिए’ की आवाज नहीं आती अब,
सो गए क्या कहीं लोगों को जगाने वाले।

आग लगते ही, हवाओं ने जुगलबंदी की,
वक्त पर पहुँचे नहीं आग बुझाने वाले।

साथ में सोती है उन लोगों के गन या पिस्टल,
डरते रहते हैं यूँ औरों को डराने वाले।

डॉस रुकते ही, वो कपड़ों में समा जाते हैं,
‘कैबरे’ द्वारा खुली देह दिखाने वाले।

रात भर, उनसे अगर सख्ती से पूछा जाए,
चोर निकलेंगे, ये ही शोर मचाने वाले!

हर समय, सोचते रहते हैं कई कोणों से,
अपने ‘दल’ के लिए रणनीति बनाने वाले।

(दो)

तेज रफ़्तार जिन्दगी में हुआ,
हादसा भागती सदी में हुआ।

निर्वसन लोग घुस गए जल में,
कुछ गलत काम उस नदी में हुआ।

दुःख में बाधा कभी नहीं आई,
विघ्न झुग्गी की हर खुशी में हुआ।

उतना ‘हिपऑप’ में न हो पाया,
जितना व्यायाम ‘कथकली’ में हुआ!

माँ ने बेटी को सिर्फ डाँटा था,
अंत...तत्काल खुदकशी में हुआ।

प्रेमिका का भी मन हुआ आहत,
प्यार जिस दिन दरिन्दगी में हुआ!

विश्व-बाजार शेर तक आया,
कितना बदलाव शायरी में हुआ?

कविता

(तीन)

रोज ही लोग पाप करते हैं,
किन्तु, कम ही विलाप करते हैं।

उनके झगड़े भी न्याय घर पहुँचे,
जो 'लिव-इन' अपने-आप करते हैं।

ऐसे लोगों से दूर ही रहिए,
जो अधिक रक्त-चाप करते हैं।

कुछ सगी लड़कियों को शर्मिन्दा,
उनके अपने ही बाप करते हैं।

छू भी पाए न जो कुँए का तल,
वो समंदर की नाप करते हैं।

आगा-पीछा वो सोचते ही नहीं,
रोज...जम कर प्रलाप करते हैं।

आवश्यकता नहीं है डरने की,
काम अब कम ही शाप करते हैं।

(चार)

कभी चल के जन-धारणाएं सुनो,
जो जनता में हैं, वे कथाएं सुनो।

छिपाने से कभी छिप न पाई कभी,
किसी की भी दुर्भावनाएं, सुनो!

गरीबों के मुँह से निकलतीं नहीं,
बिना शब्द वाली दुआएं सुनो।

तुम अपनी सहेली से जा कर कहो,
न दे वो स्वयं को सजाएं, सुनो!

छतों पर पतंगें उड़ाते हुए,
चलो, हम भी खुद को उड़ाएं, सुनो।

सुनो... बहती नदिया की मीठी सितार,
कभी गुनगुनाती हवाएं सुनो।

किसी में अधिक हैं, किसी में हैं कम,
कभी गुनगुनाती हवाएं सुनो।

किसी में अधिक हैं, किसी में हैं कम,
सभी में हैं संभावनाएं, सुनो!

१०८, त्रिलोचन टॉवर, संगम सिनेमा के सामने, गुरु बख्श की तलिया,
जी. पी. ओ. भोपाल-४६२००१, मो. ९४२५७९०५६५

समय, चिट्ठियां, धीरज और हम

कुछ चिट्ठियों के जवाब लिखने हैं तुम्हें
थोड़ा सूरज सुस्ता ले
बच्चे घरों को चले जाएं
पसीना सूख जाए
फिर लिखना

कितना कुछ सिखाया है तुमने मुझे
धीरज धरना भी
और कितना कुछ महटिया देना

सिद्धांत, सिद्धांत होते हैं
जीवन जीवन
यह भी सिखाया है

कितने दिन हो गए
सिद्धांतों के बरक्स
जीवन को जिये
साथ चाय पिये
पसीने को चखे
आत्मा को छुए
इंतजार करते हुए

तुम्हारा दोष नहीं है साथी
दोष है
इस समय का

समय, सबका उस्ताद होता है
जैसे आज मेरा

मेरे पास तुम्हारा सिखाया हुआ धीरज है
तुम्हारे पास मेरी चिट्ठियों का जवाब

सम्पर्क : हिन्दी विभाग, काजी नजरूल विश्वविद्यालय,
आसनसोल, मो. - ८२५०४१२९१४

सम्भावनावादी

तुम जैसे चीजों को देखते हो
हम वैसे नहीं देख पाते
तुम पेड़ को पेड़ देखते हो
हम मनुष्य
तुम नदी को पानी कहते हो
हम मां
तुम जंगल को सम्पत्ति कहते हो
हम घर
तुम रुपये को धन कहते हो
हम रोटी

रोटी मिल बांट के खाने से
आनंद कई गुना बढ़ जाता है

तुम मुझे कवि कहते हो
लेखक कहते हो
मैं हूँ तुम्हारे जैसा ही एक मनुष्य
बाहरी ढांचा बस पेड़ों जैसा है
हजार लाख करोड़ों अरबों और
संख्याओं की गिनती से परे
एक सामान्य सा पेड़ जैसा
और यह जीवन, मेरा भोजन
यह धरती, मेरा घर
तुम मेरे मित्र

हमारे यहाँ
मित्र ही मित्र होते हैं
शत्रु कोई नहीं होता
मैं तुम्हारी तरह देख नहीं पता
रुपये को सम्पत्ति
पेड़ को पेड़
मनुष्य को आदिवासी
मजदूर को मजदूर कह नहीं पाता

मैं व्यवहारिक कम
सम्भावनावादी ज्यादा हूँ

सुनो
कल तक जो
कल-कल बहती थी नदी
वह अब जाने क्यों
शांत हो चली है,
कर ली है
सीमाओं से पहचान उसने,
बहती है अब बंध कर
दो किनारों में,
राह के पत्थरों से भी
कतरा कर निकल जाती है
डरती है...

कहीं कोई अनायास ही
उपजा संगीत
तुम्हारे यज्ञ में
व्यवधान ना बन जाए,
सींचती हुई कई मैदान
लहलहाती हुई फसलों से
बन अनजान .
हो जाती है विलीन
विस्तृत सागर में,
सागर में उठने वाली लहरें
इस पहाड़ी नदी के
बांध ना तोड़ पाने की
असहज मन की
छटपटाहट हैं.....
और जो सुनते हो ना तुम
रेत पर पड़े...
शंखों का अस्फुट नाद
वह इसी नदी के मौन की
अनकही बगावत है !

अच्छा लगता है
गहरी धुंध का छा जाना,
क्योंकि तब तुम भी
मुझसे हो जाओगे!
जैसे मेरी दृष्टि
नहीं देख पाती
तुमसे आगे कुछ भी,
आगे बढ़ने को तुम्हें
मूंद ही लेनी होंगी आंखें

अतीन्द्रिय ज्ञान को
जगाना होगा....
व्यर्थ के कोलाहल
से उदासीन हो,
महसूस करना होगा...
अनहद की आहट को!
और उन सुसुप्त सी
संवेदनाओं को

जिनके अस्तित्व को
स्वीकार कर भी तुम,
न जाने क्यों ?
सदा ही नकारते आये हो....

और उस धुंध में आगे बढ़ते...
अनजाने ही सही,
शायद तुम मुड़ जाओ वह मोड़,
जहाँ अभी तक प्रतीक्षारत हूँ मैं
तुम्हारे, और सिर्फ तुम्हारे इंतजार में !!कहीं
तो मंजिल भी ठहरेंगी

सम्पर्क : मो. - ७३०९०३२१८०

पदों में कैद आह, सिसकियों की,
जाने कितनी मासूमों की मौत का अंजाम थीं,
खंजरो के बादशाह हर रोज लिख रहे थे,
न जाने कितनी मासूमों की मौत का पैगाम,
खंजरो की नोक से,
गुनाहों के देवता,
पाखंडियों की शवल अखितयार कर,
उढ़ा रहे थे लबादा अपने पापों पर,
समाज की मोमबतियां,
और साजिशें मोमबतियों की,
कर रही थी उपहास,
मासूमों की मौत का,
जनता की आवाज के ठेकेदारों ने,
खरीद ली थी आवाजें जनता की,
युवाओं के आक्रोश खौल रहे थे,
उनके जिस्म में लहू बनकर,
जज की कुर्सी के न्यायाधीश,
राजनीति के शिकंजे में जकड़े,
अपनी आवाज ही खो बैठे थे,
ये क्या, आज दीन-इलाही की लाठी में,
आवाज ही नहीं है,
कहाँ गए वो मुहावरों के कसीदे,
जो सत्त्वाइयों को पुख्ता करने के प्रतीक थे,
कहाँ छिपे हैं उपदेशक, पैगंबर, कलम के सिपाही,
जो इस दर्दनाक घटित सत्य को,
अंजान दे सके,
सारी लोक कल्याणकारी संस्थाएं,
सिर मुड़ाए खड़ी हैं,
दुर्दोशन की सभाओं में,
मौत की बलिदेवी पर, मासूमों की,
आत्माएं रो रही हैं सौ-सौ आंसू,
अपनी परिणति पर।

मेरे साथ चलो,
हम आकाश कंदीलों के प्रकाश में,
लिख देंगे मधुरता का नया इतिहास,
जिसकी झरती रोशनी,
अतीत के रोशनदानों में,
जाकर मिटा देगी,
इतिहास के वर्क पर लिखे,
अंधकार का वजूद,
खोजेंगी गुमनामियों में दबे,
उन फरिश्तों के पदचिन्ह,
जिन्हें इतिहास के पन्नों पर,
अंकित होने का स्वर्णिम,
सौभाग्य नहीं मिला,
झरती रोशनी इतिहास के पन्नों से,
मिट देंगी वो क्रूरतम तारीखें,
जो किसी भी देश का दुर्भाग्य बन,
मंडराती रहती है सदियों तक,
मेरे साथ चलो,
उन मासूमों, युवतियों,
निरापराधों के पास,
जिनका भविष्य चक्कर काट रहा है,
काल कोठरी के गलियारे में,
हम तराशेंगे मासूमों के वजूद को,
देंगे उन्हें रास्ता नयी मंजिलों का,
हवस की शिकार युवतियों को,
नारकीय जीवन से निकाल,
हम देंगे उन्हें उम्मीद का नया घर,
ताकि वे यतीम न रहें,
क्या तुम चल सकोगे मेरे साथ,
प्यार के इस नये मुकाम पर।

डॉ. वन्दना गुप्ता, डॉ राजेन्द्र प्रसाद गर्ल्स हाई स्कूल
(हामर सेकंडरी) डोंगी पाड़ा, सिलीगुड़ी, पश्चिम बंगाल, मो. ८२५०४०२९६१

स्वतंत्र हर एक प्राणी रहना चाहता है

स्वतंत्र हर एक प्राणी रहना चाहता है,
अपेक्षा नहीं करता किसी से कुछ मांगने की
पर परिस्थितियां सब को मजबूर करती हैं,
तभी तो जोखू बाश मारता पानी पीकर
ठाकुर के कुएं को जीव हत्या का
एक मौका दे देता है।
शायद कुएं का मालिक इसी में
अपना शान भी समझता है।
अपने को महान समझना सब की चाहना है,
पर महानता उसी की खड़ी होती है,
जिसे दुनियां ये तमगा देती है।
स्वान्तः सुखाय का फार्मूला
सामाजिक नहीं हो सकता है,
क्योंकि यहाँ परोपकार की भावना
कहीं दिखाई नहीं देती है।
अपने लिए जीना मनुष्य की प्रवृत्ति होती है ,
पर प्रकृति इसके विपरीत चलती है।
निःस्वार्थ सेवा ही उसकी विशेषता है,
इसी लिए मनुष्य के दोहन के बावजूद भी
अपने अस्तीत्व को कायम रखती हैं।

ऐ मुसाफिर

मत जा तू अकेले गौ चराने
चारा नहीं है तो क्या हुआ
खिला के चुन्नी-खुदी
रख ले पहर-दो पहर घर में ही।
आतताइयों का झुंड
घात लगाए कब से बैठा है
किसी शिकार के फ़िराक में।
तुम्हारी थोड़ी सी नासमझी

कोई बड़ी अनहोनी देख सकती है
भेड़िये का झुंड योजनाबद्ध होकर
तेरी राह को टटोल रहे हैं।

भूखे-प्यासे एक अलग रंग में
कूद पड़ेंगे एक साथ कई- कई भेड़िये
लात-घूसों के सहारे कर देंगे
तुझे मौत के हवाले।

बची भी होगी जान तेरी किसी तरह
मांगेगा किसी दरिन्दे से पानी
सूखे हुए हलक तर करने के वास्ते
नहीं देगा पानी कोई तुझे
भले मांग लेना आसान मौत की भीख।

तू चीखता-चिल्लाता रह जायेगा
कोई नहीं होगा आस-पास तेरे
उनका गुर्रसा तेरे तन को
बोटी-बोटी कर देंगे।

जरूर भेड़ियों के झुंड का
मॉनेटरिंग हो रही होगी कहीं बैठकर
नाग के खोह में।

लाश तेरी पड़ी होगी
शहर के गलियों या चौराहों पर पहर-दोपहर
बाश मारेगी बहुत खबरिया चैनलों पर
तब आएगा कोई अमला खबर लेने तेरी
बदबू फैलता देख कुछ सांत्वना देने के लिए
दिखावटी गिरफ्तारियां भी होंगी।

धधकती आग को बुझा दिया जाएगा
भर्त्सना और निंदा जैसे शब्दों से
फिर कुछ ही दिनों बाद
भेड़िये इंसान बन कर आ जाएंगे आपके बीच
फूल- मालाओं से स्वागत होगा
और मुँह में मिठाइयां ठूँसी जाएँगी ।

सम्पर्क : ९१२२८३३८३९, ब्रह्म स्थान,
हिसुआ, पो.- हिसुआ, जिला- नवादा-८०९१०३

अन्दर लावा, ऊपर बर्फ : रचना-प्रक्रिया का संदर्भ

नरेन्द्र मोहन

पढ़ते-लिखते ५०-५५ साल हो गये। कविता, नाटक, डायरी, आत्मकथा, जीवनी, आलोचना, संपादन क्या-क्या नहीं किया। तूफानों-भरी लेखकीय जिन्दगी को खूब जिया। साहित्यिक चर्चाओं के वात्स्याचक्र में भी उड़ता-गिरता-उठता रहा। टूटा-बिखरा, रोया-हँसा, चोटी पर चढ़ने-गिरने के एहसासों से भी गुजरा। जो हो, एक भरपूर जिन्दगी के बहकावों, अवसादों, उल्लासों, तनावों और संतापों से दो-चार हुआ। इस बीच अकेलेपन से भी बुरी तरह घिरा, हालांकि ऐसे अवसरों पर लेखन ने अकेलेपन से बाहर आने में मेरी बड़ी सहायता की। इसीलिए लेखकीय संबंध मेरे लिए मूल्यवान रहे हैं-खूनी रिश्तों से भी ज्यादा। कभी-कभी हताश जरूर हुआ हूँ लेकिन ज्यादातर इन संबंधों ने मुझे स्फूर्ति प्रदान की है इस अवसर पर याद आती है अनुराधा जो दस साल पहले छोड़कर चली गयी। वही थी जिसने विपरीत परिस्थितियों में भी मेरे मनोबल को टूटने नहीं दिया और लेखकीय जिन्दगी के घमासानों से मुंह नहीं मोड़ने दिया, जो चुपचाप मेरे सृजन के नेपथ्य को संभाले रही। वह नेपथ्य आज भी मेरे लिए गूंजता रहता है।

मुलाहिजा हो, अंधेरे समुद्र से उठती दहशत और अकेलेपन की एक लहर, एक परत जो मेरे साथ कुछ इस तरह जुड़ी कि आज भी मैं उससे मुक्त नहीं हो पाया हूँ। वर्तमान से अतीत और अतीत से वर्तमान में आता जाता जब मैं रचना-कर्म में जुटता हूँ, तो कभी अपने निज की कन्दराओं में धंसता हूँ, तो कभी इतिहास की जलती हुई चट्टानों से झूलस जाता हूँ। लिखते हुए मैं उस खौलते हुए एहसास को मूर्त करने की कोशिश करता हूँ जिससे मेरी चेतना बचपन से आक्रांत रही। याद आती है अपनी जन्म घड़ी-३० जुलाई १९३५, लाहौर। मां बताती है शहर में फसाद हो गया था और कर्फ्यू लगा दिया गया था। रात के बारह बजे थे। माँ तड़प रही थी प्रसव पीड़ा से और पिताजी शूट एट साइट के आर्डर को सीने पर झेलते लाहौर की गलियाँ लांघते गये थे। जन्म का मुहूर्त, फसाद, कर्फ्यू, मारो-काटो की आवाजें, मां की छटपटाहट, आज सोचता हूँ मेरे अवचेतन में तभी लिपट गये होंगे। स्तब्धता और डर के साये कोखा में ही मेरे साथ आकार लेते गए होंगे। आज जब दंगे होते हैं तो मुझे गर्भ के अंधेरे में दिखे डरावने लम्हें याद आ जाते हैं और मैं कॉप-कॉप जाता हूँ। सोचता हूँ जन्म-घड़ी के साथ मेरी सृजन घड़ियों का संबंध रहा ही होगा।

बचपन का सबसे भयावह इमेज जिसकी गिरफ्त से मैं आज तक बाहर न आ सका और जो लगातार मुझे हाँट करता रहा, वह बंटवारे का इमेज है। जिन्न की तरह उसने मुझे अपने लम्बे बालों में जकड़े रखा। वह एक अन्दरूनी वारदात की तरह मेरा हिस्सा है। जब कभी मेरे सामने आगजनी, कत्तोगारत

सरगम के सुर साधे

और बरबादी का कोई मंजर गुजरा, मुझे बंटवारा याद आया। विस्थापन के कई दौरों से गुजरते हुए, मैंने उससे छुटकारा पाने की कोशिश की मगर वर्तमान के भयावह दृश्य बीच में आ खड़े होते और बंटवारे से जुड़ने लगते। एक जखम की तरह वह त्रासदी मेरे दिमाग में रिसती रही, एक विचार की तरह वह मुझे आन्दोलित करती रही। उसने मेरी संवेदना के स्तरों को बेहद प्रभावित किया। किसी लेखक की भीतरी आग को न कौमें, सरहदें रोक पाती हैं, न भाषाएं। वह खुद को कहां रोक पाता है उस इंसान की टटोलने से जो हिस्सा ढह रहा हो या अंतिम सांसों ले रहा हो। विभाजन की त्रासदी मेरे लिए मौलवी युसूफ से लिपटी हुई दृश्यों-गतियों में मूर्त हुई है। तब मैं दर्जा पांच में था। वह हमें हिसाब पढ़ाया करता था- जमा, जर्ब और तकसीम। एक दिन मैंने उसे बहुत परेशान देखा- वह तकसीम के नाम पर जमा और जर्ब करने लगा था। किसी चीज को दो फांकों में कटा देख बौखलाने लगा था और उसने उलट-पुलट कैची चला कर अपने जिस्म पर सैंकड़ों जखम कर लिये थे और वह भौंचक्का-सा खड़ा देखता रहता था पेड़ों की ओर और फिर भागता हुआ लिपट जाता था उनसे। पेड़ को काटते हुए नहीं, समूल जलते हुए देखा था उसने अपनी आंखों के ठीक सामने और कई बार उसे डूबते-डूबते बचाया गया था और लोगों ने उसे पागल करार दिया था। युसूफ की वह हालत मैं कभी भुला नहीं सका। 'वह रोते-रोते हंसने लगता। हंसते-हंसते हकलाने लगता। हकलाते-हकलाते एक चुप्पी में दफन होने और दफन होते हुए तालिया बजाने लगता।'

इस त्रासदी के गुजर जाने के सालों बाद मैंने एक लंबी कविता लिखी 'एक अमिकांड जगहें बदलता'। इसमें मैंने युसूफ की उस दौर की हालत को कई कोणों से, कई तरफ से पकड़ने की कोशिश की पर वह पूरा का पूरा, एकबारगी, मेरी पकड़ में न आया और मैं उसे अलग-अलग तरह से अभिव्यक्त करने की कोशिश करता रहा। यह विभाजन ही था जिसने मुझसे 'एक अमिकांड जगहें बदलता' जैसी कविता, 'मि. जिन्ना' जैसा नाटक और 'मंटो जिन्दा है' जैसी जीवन-कथा लिखवा ली।

अपने देश में ही, एक 'रिफ्यूजी', एक मुहाजिर-सा, अपने होने और खुद को पाने के लिए, एक घर, एक आइडेंटिटी की तलाश में, एक मुकाम से दूसरे तक आता-जाता रहा हूं। खून सनी राहों पर एक घर की तलाश में खूब भटका हूं। अगर

लेखन का सहारा न रहा होता तो कब का मर-खप गया होता।

दोस्ती-द्वेष, यश-अपशय, प्रेम-अप्रेम की दोधारी तलवारें, नहीं, नहीं, दोनों तरफ नुकीली सुइयों से मैं बुरी तरह बिंधा हूं। ये सुइयाँ जिन्दगी-भर, आखिरी लम्हों में भी कोंचती रहती हैं। लेखन के लिए ये निश्चय ही उत्प्रेरक का काम करती हैं। इसीलिए मैं इन्हें लेखन के एक बेहतरीन तोहफे के तौर पर स्वीकार करता हूं।

मोहभंग की कई स्थितियों और दौरों से गुजरने के बाद भी मेरे भीतर एक सपना है जो मेरा साथ नहीं छोड़ता। कविता हो या नाटक या अन्य कोई रचना, यथार्थ और स्वप्न, इतिहास और स्मृति के तनाव को झेलता ही हूं। कभी स्थूल तो कभी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तरों पर। यह तनाव कितना गहरा और व्यापक है, इसकी रेंज कितनी दीर्घकालिक है, इसे मेरी कविताओं, नाटकों और संस्मरणों-डायरियों से पाठक जान सकते हैं।

खुद की चीर-फाड़ करना मेरे लिए मुश्किल रहा है। जिन चीजों के बारे में अंदेसा होता, सबसे ज्यादा वही अड़ती राह में। अपने सही होने के लबादे में पता नहीं क्या कुछ-संस्कार, नैतिकता लिपटे रहते और उन्हीं का गुमान मुझे दूसरों से मेल-जोल से रोक देता है। अपनी राह पर चलने की जिद ने जहां मुझे फालतू की चीजों से बचाया है, वहीं प्रयोगों के रास्ते मेरे लिए ज्यादा खुलने नहीं दिये।

अंधेरा बहुत बड़ी नेमत है-सभी रंगों का उत्स। लेखक की जिन्दगी में इस अंधेरे का एक सिरा उदासी है, दूसरा उल्लास। अपनी रचनाओं के संदर्भ में पंजाबी के कवि सुरजीत पातर के शब्दों को उधार लेकर कहूं तो, 'ये कुछ बूंदें हैं जो मैंने तपती हुई रूह से कशीद की है। यह एक गवाही है कि उदास अंधेरा/ इस तरह लिखता है।' जाहिर है उदास अंधेरे में यह देखना-भर नहीं है, अन्दर और बाहर रचना में देखने के परे भी देखना है।

आज के समय में जब लेखक की उपस्थिति निरन्तर छीज रही हो या छीजती जा रही हो, समाज में लेखक के होने को हर संभव तरीके से महसूस करते रहना, नयी संवेदनाओं और विचारों से आन्दोलित होते रहने के समान है। रचना के जरिए समाज में किसी बड़े बदलाव की बात न भी करें, यह भरोसा अभी खारिज नहीं हुआ है कि इससे नयी चेतना का संचार हो सकता है और सोच में बदलाव आ सकता है। यह उम्मीद अभी कायम है कि अपनी तरह से जीने और खुले-स्वाधीन विचारों के लिए जगह बची रहेगी।

सरगम के सुर साथे
दिल्ली में लाहौर, लाहौर में दिल्ली

देह के अन्दर हो जैसे
देह के बाहर
लाहौर के अन्दर हूँ वैसे
लाहौर से बाहर

मेरा दोस्त, आसिफ
दरख्त से सटा
मुझे देखता रहा जाता
उस पार
अँधेरे में पागल के साये-सा
कंपकपाता
मैं उसे देखता रहा जाता
अँधेरे कैनवस पर चीख की सलवटों-सा

अँधेरे में साया
अँधेरे में चीख
दिल्ली में लाहौर
लाहौर में दिल्ली।

खींचता लाहौर
भींचती दिल्ली
दोनों से निर्वासित
दोनों से जुदा
अपने को खोजता
एक घर तलाशता
हाँफ-हाँफ जाता

साँचों में
खाँचों में
ढाँचों में
पेड़-पड़े
बोलूँ
लिखूँ

जीऊँ
नहीं तो मरूँ

सूनी रेखाओं का कोलाज लांघता हूँ
गुमनाम अँधेरे में
फर्जी मुठभेड़ों में
अपने होने की जगह खरोँचता हूँ
एक पल हँसता, एक पल रोता हूँ

गले में लटकी
एक प्रस्तर प्रतिमा
शहरों के नामसे ध्वनित-प्रतिध्वनित
और मैं छटपटाता हूँ
कँधे पर लादे एक गठरी
दिल्ली में लाहौर
लाहौर में दिल्ली।

मैं ही मरा हूँ आसपास

वे दो दिन
मेरे खून में रवाँ हैं अब भी

देखता हूँ-डरे-डरे ऑफिस जाते पिता सुबह-सुबह
सहमे से आतंकित लौटते शाम को
चीख पड़ते सोते हुए रात को
१४ अगस्त, १९४७, लाहौर बनता पाकिस्तान
१७ अगस्त, कटता दो फाँक हिन्दुस्तान
और जश्ने आजादी हर साल
इधर भी उधर भी

उन दो दिनों की यादों ने खूब पागल बनाया मुझे
कहाँ सोचता था-
वे दिन सचमुच दहलाते रहेंगे
हफते में कई-कई बार
कुछ न कुछ हो ही जाता हर रोज

सरगम के सुर साथे

कभी मरता पाश, कभी सफदर हाशमी
आ चिपकती तलवों में
खून सनी यादें और मैं सहमा-सा गिरता
क्षत-विक्षत, बार-बार

विचार के भाल को फोड़ती
एक गोली
और हत्या कलबुर्गी की
शब्द से बेदखल जैसे आसमान
थारता रहा

और जश्न मनाती मोहम्मद इखलाक के खून के प्यासी
हत्यारों की भीड़
बाज के पंजे में एक गौरैया
अंतिम सांस तक एक चीख ढेर होती

दहशत में लब खुले हैं आजाद
बेरुवाब
बेआवाज
कलबुर्गी हो या मोहम्मद इखलाक
में ही मरा हूँ आस-पास।

बहुत दिनों के बाद

बहुत दिनों बाद...
चीख की सलवटों में गुंथी-गूंजती
बच्चे की आवाज सुनी
अंधेरे को चीरती
मंच के एक ओर से दूसरी ओर जाती

और पोर-पोर में खिंचती गयी अग्निलीक
दृश्य में गति में प्रकाश में
मिटने लगी धुंध, दिखने लगी शक्तें

और एक सुलगती आवाज
'रंगों में दौड़ते-फिरने के हम नहीं कायल
जो आँख ही से न टपके, तो फिर लहू क्या है'

बहुत दिनों के बाद....
दीवारों से झांकने लगे अमूर्त से चेहरे
दिखते कभी डूबते-
इतिहास में मिथक, मिथक में इतिहास
के बीच में कहाँ से आ गया शम्बूक का हाथ
एक दृश्य के टुकड़े-सा
चांद-सितारों के बीच विचरते
खुली आँखों सपना देखता
उड़ान भरता

एक सवाल

'एक सवाल'
'हां, बस एक सवाल'
मृत्यु की आँखों में आँखें डालते हुए मैंने कहा-
'क्या है वह जो तुम्हारा हो जाने के बाद भी
अमर बनाता है।

'अरे, वही जो डरता नहीं
देता है मुझे चुनौती
मेरी आँखों में बेखौफ झांकता है
मेरी तरफ देख हँसता है
और भगत सिंह हो जाता है

मैंने देखा-
कहीं नहीं हैं डर के साये
मौत जिन्दगी-सी मोहक है
और मैं उसके आर-पार झांक रहा हूँ।

सरगम के सुर साथे निर्द्वन्द्व

और अकस्मात् टुकड़े के केन्द्र में प्रकट हुए श्री राम
पहले चौंके, फिर तमक उठे...
कौन यह शम्बूक
किस की मजाल कि
नक्षत्रों में दिखे
तपस्या के शिखरों को छुए
व्यवस्था-विरुद्ध
स्वर्ग पर चढ़े
मर्यादा पुरुषोत्तम.... जी हाँ, मर्यादा की डोर थामे
संशय से कांपे न दुविधा से घिरे
तमतमाती तलवार बिजली-सी उठी और
धड़ से अलग हो गया शम्बूक का सिर
पुष्प वर्षा हुई
देवताओं के आशीर्वाद से
गूँज उठा आकाश।

बहुत दिनों के बाद
चमत्कार ही हुआ
धड़ पर आ जुड़ा सिर
रोहित विमुला में रूपांतरित हुआ
सपने देखता....
चाँद-सितारों में दाखिल हुआ
मर्मांतक पीड़ा सहता
लानत, नफरतके तीरों के
जख्मों से रिसते मवाद में जीता-मरता
खुद को खाली होता देखता
मृत्यु को फांद गया
फंदे पर लटका समूचा वजूद
फंदे पर लटका समूचा वजूद
बहुत दिनों के बाद।

संपर्क : २३९-डी, एम.आई.जी. फ्लैट्स, राजौरी, नई दिल्ली-११००२४, मो. ९८१८७४९३२१

क्षितिज के पार

राजगोपाल सिंह वर्मा

मल्लीताल में, माल रोड पर नारायण बुक स्टोर खाली समय में मेरे लिए बहुत सुकून की जगह होती है, जहाँ मैं बिना टोका-टाकी या असभ्य लोगों की चिल्ला-पों अथवा पर्यटकों के रंग-बिरंगे परिधानों, हैट और सेल्फी स्टिक से जूझने के अलावा कुछ गंभीर लेखकों की नई पुस्तकों को उलट-पुलट लेता हूँ। जरूरत पड़ने पर इक्का-दुक्का खरीददारी भी हो जाती है।

आज भी रविवार का दिन था। इसी लिए उस ओर के लिए कदम बढ़ रहे थे। पर, बुक शॉप से निकलते हुए सृष्टि को देखा तो एकबारगी प्रसन्नता हुई। एक परिचित से अचानक टकरा जाने जैसे भाव भी जरूर आये पर फिर दिमाग ने उन भावों पर तत्काल ही नियंत्रण पा लिया और सहज भाव फिर से मन पर हावी हो गया। उसके पति ने तो शायद मुझे देखा नहीं था, पर बाहर एकबारगी हल्के अँधेरे, और ब्रिटिश युग की नये ज़माने की हल्की पीली रोशनी की छटा में नहाये लैम्पपोस्ट से इस पर्यटक नगरी के मुख्य बाज़ार की रंगीनियों और रौनक में मशगूल सृष्टि की नज़रें मुझसे क्षण भर के लिये ही सही, मिली जरूर थी!

बहुत बड़ा समय होता है न तेरह साल? न जाने कितने उतार-चढ़ाव! और कुछ स्मृतियाँ आँखों के सामने सजीव होने लगी।

मे आई कम इन, सर?

एक सॉफ्ट और मीठी नारी स्वर से मैंने अपने कक्ष के मुख्य द्वार की ओर निगाह घुमाई तो साड़ी में अपने शरीर को पूरी तरह से ढंके एक सौम्य नारी की छवि, जो आधे पर्दे के पीछे से झाँक रही थी, मुझे दिखाई दी। मेरी सहमति के बाद वह प्रविष्ट हुयी और उतनी ही मधुर आवाज में अपना परिचय दिया। उसकी कॉल थी और फोन मेरे कक्ष में डाइवर्ट था।

...बात सन २००१ की है, जब मैंने प्रतिनियुक्ति पर ज्वाइन किया था, लोक निर्माण विभाग के परिवृत-४ में अधिशासी अभियंता के रूप में, जो इकाई नैनीताल में पिछले दो दशकों से कार्यरत थी और उसने बढ़ते-बढ़ते अब मिनी मुख्यालय का रूप ले लिया था। विभाग में सृष्टि मेरे साथ सहायक अभियंता के पद पर संबद्ध थी। वह उन लगभग १८ अधिकारियों व ४२ कर्मचारियों में से एक थी जिन्हें मुझे रिपोर्ट करना होता था। वह तो बाद में मैं उसको जान पाया, पर न जाने क्यूँ उसको पहली बार मैं ही देखकर मुझे लगता था कि वह सबसे अलग है, और यह भी कि

कहानी

किसी भी काम के मामले में उस पर भरोसा किया जा सकता था। यकीनन, यह मेरी अंतरात्मा की आवाज थी और इसका कोई भी तार्किक कारण मेरे पास नहीं था।

बाद में मुझे जब भी किसी काम को समझने की या कोई जानकारी करने की जरूरत होती तो सृष्टि को बुलवा लेता। वह भी निस्संकोच अपनी राय देती और आमतौर पर वह राय सही होती थी। अब मेरा स्टाफ भी समझने लगा था और वह लोग कई बार अरे, बुलाना उन्हें.. कहने भर से ही गर्दन हिलाकर सृष्टि को उसके प्रथम तल के केबिन से बुलाने निकल पड़ते। मैं भूतल के अपने कक्ष में बैठता था।

...पता नहीं, इस सोच को क्या कहूं। यह दिल है कि मानता ही नहीं बस देखकर ही फैसला कर लेता है। बार-बार सोचता हूँ, कि आगे से हमेशा दिमाग की सुनूंगा। लेकिन दिल के भाव कुछ इतने मजबूत हो जाते हैं, कि वह दिमाग की अनदेखी करने पर ही तुला रहता है, हमेशा। तर्क शक्ति क्षीण पड़ जाती है, और जो सोचा है बस वही ठीक लगता है। अक्सर अतार्किक।

वह बात और है कि इस कारण जो धोखे मिले हैं, उसकी फेहरिस्त लम्बी होती जाती है। कुछ दिन उदासीनता। फिर, लगता है कि जिन्दगी में बहुत कुछ है, उससे सहारे खुशियाँ ढूँढी जा सकती हैं, उनमें जिया जा सकता है। लोगों का आना-जाना, सम्बन्ध, विचार यह सब तो तात्कालिक बातें हैं। पर हमेशा मुझे तो क्षितिज के पार ही देखने की इच्छा रहती थी। दूर... जहाँ आकाश और पृथ्वी का मिलन दिखता हो एक सतरंगी से स्वप्न की भाँति !

एक दिन शहर में अनायास ही बर्फ़बारी की स्थिति बन गई। सृष्टि के पति ने फोन किया। लैंडलाइन फोन मेरे पास ही था। उसका एक्सटेंशन जरूर मेरे पीए अतुल के पास रहता था। कार्यालय समय के बाद, सामान्यतः वह बता कर निकल जाता और मैं भी उसे तभी रोकता जब कोई वाकई जरूरी काम होता। हाँ, जाने से पहले वह सारी काल्स मेरे नंबर पर डाइवर्ट जरूर कर जाता ताकि कोई कॉल उसके कमरे में अनावश्यक रूप से बजती न रहे और मैं जान भी न पाऊँ। वैसे भी उन दिनों केवल लैंडलाइन फोन का ही जमाना था। जन्म जरूर हो चुका था मोबाइल का, पर वह इतना महंगा था कि उसके उपयोग के

विषय में सोचना भी मूर्खता थी।

खैर! बात हो रही थी सृष्टि को आये कॉल की। उसके पति ने फोन किया था, यह बताने के लिये कि वह उसकी प्रतीक्षा करे, क्योंकि उस इलाके में, जहाँ वह रहते थे, भू-स्खलन का भी खतरा था। अकेला लौटना खतरनाक हो सकता था। वह नगर से थोड़ा दूर और निर्जन क्षेत्र था, वह लोग जहाँ रहते थे, लगभग चार किलोमीटर दूर, और आज परिवहन के साधन भी लगभग बंद हो चुके थे। वह तेज़ी से बदलते मौसम में उसको लेने आये, और सृष्टि उनके साथ चली गई। अब कई दिन तक मौसम में अप्रत्याशित बदलाव जारी था, तो उनका सृष्टि को छोड़ने और लाने का सिलसिला आरम्भ हो गया।

इस बीच काम की अधिकता और सृष्टि पर मेरी निर्भरता दोनों में ही तेज़ गति से वृद्धि हो रही थी। किसी काम को समझने के बजाय मैं उसे सृष्टि को सौंपकर निश्चित हो जाता। और हाँ, सृष्टि ने कभी उसमें अपनी जी-जान न लगाई हो, ऐसा मुझे एक बार भी आभास नहीं हुआ। दूसरी खूबी उसकी यह थी कि उसे कोई अभिमान नहीं था, ना अपनी शिक्षा पर, ओहदे पर या अपने काम के प्रति समर्पण की भावना पर। सब कुछ निश्चल था, जिसे उसके चेहरे और आत्मविश्वासयुक्त दर्प से महसूस किया जा सकता था।

नये विभाग की नई और दुरूह-सी कार्य संस्कृति को रातों रात अपनाना किसी के लिये भी संभव नहीं। वह भी मैदानी इलाके से, दूसरे विभाग से आकर नैनीताल जैसे पर्यटक और पहाड़ी क्षेत्र। कई रास्ते तो ऐसे थे जहाँ पर पैदल चलना ज्यादा श्रेयस्कर था, कुछ ऐसे थे कि वहाँ सरकारी गाड़ी से जाना ऐसा लगता था की खतरों के खिलाड़ी बनकर जा रहे हों, और न जाने लौट भी पायेंगे या नहीं। पर, जब सृष्टि जैसी सहकर्मी मिली हो, तो मुझे ज्यादा माथा-पच्ची करने की क्या जरूरत थी! वैसे भी यह मेरा अतिरिक्त कार्यप्रभार था, अपने मूल काम के साथ-साथ। सो, मैं कुछ देर के लिये ही ऑफिस बैठता और कुछ जरूरी फाइलों को निपटाकर आवश्यक निर्देश देकर वापिस अपने दूसरे कार्यालय चला जाता जो इस भवन से डेढ़ किलोमीटर दूर एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित था, जहाँ मुझे विद्युत विभाग की निर्माण इकाई में अधीक्षण अभियंता का पद प्राप्त था। कई बार जरूर रात के आठ-साढ़े आठ भी

कहानी

बज जाते थे। तब सृष्टि सहित सारा स्टाफ भी रुका रहता, जब तक मैं उन्हें स्वयं जाने को नहीं कह देता।

हालाँकि काम उतना ही था पर अब मेरे रूकने की अवधि बढ़ गई थी। अब मैं अपने मूल ऑफिस के काम को कम समय देने लगा और इस ऑफिस में मेरा ज्यादा समय गुजरने लगा। कब से, यह मुझे पता ही नहीं चला, और क्यों, इसका भी कोई तर्क मेरे पास नहीं था। कई बार तो नौ भी बज जाते पर न तो कोई टोकता, न मैं जल्दी जाने में रुचि दिखाता। अब मुझे समय-समय पर चाय, कॉफी और कभी कुछ स्नैक्स या कटे हुए फल भी सर्व होने लगे। विशिष्ट विजिटर को आवश्यकतानुसार बिना कहे चाय पिलाना और भी सुखद लगता था। बाद में पता चला की यह सब सृष्टि के प्रबंधन का नतीजा था। मैं अभिभूत हो जाता। कई बार सृष्टि मुझे देर होने पर कुछ जरूरी बातें याद कराती। सारांश में, मेरी ऑफिस की दुनिया सृष्टि के आसपास घूमने लगी, और वह मेरी जरूरतों का भी हिसाब रखने लगी। अच्छा लगने लगा था यह बदलाव मुझे भी।

जनवरी का महीना और सर्दी का मौसम चरम पर। कुछ दिनों बाद फिर वही हुआ। तूफानी और बर्फाली आंधियां आने लगी। स्टाफ के सब लोग जल्दी जाने की बात करने लगे। मुझे अपनी कोई चिंता नहीं था, क्योंकि मेरा आवास इस ऑफिस से मात्र एक किलोमीटर, नये विकसित क्षेत्र में था, जहाँ न तो रास्तों की कोई दुविधा थी और न ही कोई अन्य समस्या। मैंने स्वयं सृष्टि को बुलाकर उसे घर जाने की अनुमति दे दी थी। वह अपने पति को फोन कर उनके आने की प्रतीक्षा में बाहर चली गई।

अगले दिन वह नहीं आ पाई। दूसरा दिन भी बीत गया। अफसोस इस बात का था कि लैंडलाइन फोन भी पिछले कई दिन से डेड था। तीसरे दिन सृष्टि ने किसी के हाथ ऑफिस में अपनी छुट्टी की एप्लीकेशन भिजवाई थी जिसमें उसके वायरल फीवर से बीमार होने का जिक्र था।

चौथे दिन सृष्टि मेरे आने से पहले ही मुझे ऑफिस में दिख गई। वह स्वस्थ लग रही थी, जैसे कुछ हुआ ही नहीं था। मुझे पता था कि वायरल के बाद लगभग एक सप्ताह इन्सान काम करने योग्य नहीं रहता, पर चौथे दिन ही उसे मौजूद देख कर मुझे अच्छा लगा। मैंने उसे अपने कक्ष में आने को कहा।

हालचाल लेने के बाद मैंने उसे औपचारिकतावश कहा,

अच्छा हुआ आप आज आ गईं, फोन डेड था, वर्ना मैं तो आज आपको पड़ोस के नंबर पर फोन कर हाल-चाल लेने वाला था आज!

अरे सर, हमारी ऐसी किस्मत कहाँ, और अगर आप फोन कर देते तो हमारी तो स्लीपलेस नाइट्स हो जातीं,

यह कहकर वह मेरी आँखों में झाँक कर खिलखिलाकर हंस पड़ी। सर्दी का मौसम और फर का लांग कोट, उस पर काफी फब रहा था। मैं उसकी इस बात और हंसी के लिये तैयार नहीं था और मेरी सकपकाहट मेरी झेंप में दिखी। उसका यह बिंदास रूप मैंने कभी नहीं देखा था। बस, उससे जब भी होती थी, काम की बात। आज वह बिना काम के निस्संकोच सामने की कुर्सी पर बैठ गई। मैंने भी चाय मंगा ली थी, उसके और अपने लिये। बातें चल निकली... उसने बताया कि घर में पति और दो छोटे बच्चों के अलावा सास-ससुर और ननद भी है। छोटा बेटा उसका लगभग एक साल का था जिसे वह कभी आया, कभी पड़ोस और कभी अपनी माँ के हवाले करने के बाद ऑफिस आती थी। सास-ससुर से कोई खास सहयोग नहीं था, माँ शहर के दूसरे छोर पर रहती थी। दो भाई थे उसके मायके में जिनमें से लगातार बीमार बना रहता था, दूसरा अभी बेरोजगार था।

वायरल की बीमारी तो सामान्य मानी जाती है, सबको कभी न कभी होती रहती है। बीमारी से उठकर इन्सान शारीरिक और मानसिक रूप से दुर्बल महसूस करता है, जबकि सृष्टि इसके विपरीत दुरुस्त और अधिक ही आकर्षक लग रही थी। मैंने आज शायद पहली बार उसके नयन-नक्श को गौर से देखने की कोशिश की। वह हमेशा साड़ी ही पहनती थी। पतली, आकर्षक व छरहरी काया की स्वामिनी कॉटन की ऑरंगजा साड़ी, हाथों में केवल कांच की चूड़ियों तथा बिना किसी अन्य ज्वेलरी में भी वह काफी आकर्षक दिखती थी। आज जरूर साड़ी से अधिक उसका लांग कोट नज़र आ रहा था, जिसने उसके शरीर के ८० प्रतिशत भाग को कायदे से ढक रखा था। उसका साड़ी बाँधने का स्टाइल कुछ अलग था जिसमें पल्लू से पूरा शरीर ढका रहता और केवल हाथों के किनारे या अंगुलियाँ ही दिखाई पड़ती थी, जिनसे वह साड़ी का

कहानी

किनारा संभाले रखती। बड़ी-बड़ी गोल, सुरमई सी आँखें और हँसते समय गालों में हल्के गड्ढे पड़ने से उसकी हंसी और भी मोहक बन जाती थी। रंग जरूर उसका थोड़ा सांवला था, लेकिन अच्छे फीचर्स के सामने वह सृष्टि की कृपांगी आकर्षकता को कहीं से भी विपरीत रूप से प्रभावित नहीं करता था।

अब लगभग रोज़ ही कोई न कोई बात व्यक्तिगत भी होने लगी सृष्टि से। अपने काम में निपुण, और अपने विषय में गोल्ड मैडल के बाद भी उसका पिछले सात साल से कोई प्रमोशन नहीं हुआ था, जबकि उसके जूनियर दो-दो प्रमोशन पाकर सृष्टि से वरिष्ठ बन बैठे थे। इस बात को भी उसने खिलखिलाकर बताया मुझे। उसे कोई खास शिकायत नहीं थी किसी से। वह जानती थी कि यह सिस्टम की पेचीदगियों के कारण है, न कि उससे किसी पूर्वाग्रह के कारण। इस बीच उसने गैर-तकनीकी विषय समाज शास्त्र में शोध के लिये विश्वविद्यालय से अपना पंजीकरण करा लिया था।

उसके पति ने सृष्टि को रोजाना लेने आना तो बंद कर दिया था, पर कभी-कभी वह अचानक गैर-समय अवश्य टपक पड़ता और विचित्र से भावों से अपनी नापसंदगी जाहिर करता दिखता। मैंने उसकी परवाह करनी छोड़ दी थी, उसके रूखे व्यवहार को देखते हुये। उसे मेरी मंगवाई हुई चाय जो पसंद नहीं आती थी। वह बरांडे में चपरासियों और अन्य विजिटर के आस पास या तो बैठा रहता या टहलते हुए अपना समय बिताता।

बाद में सृष्टि से ही पता चला कि रोज-रोज़ के झंझटों के सम्बन्ध में। अन्ततः एक दिन सृष्टि ने बताया कि उसने अपने दोनों बच्चों के साथ अलग रहने का फैसला किया है, और अब वह फैसला अटल है, क्योंकि पिछले लगभग नौ साल से वह नाकाम से रिश्ते को पल-पल जिन्दा रखने के लिये स्वयं को मारती आ रही थी। अब वह थक चुकी थी। इस फैसले में अभी भी एक 'सिल्वर लाइनिंग' यह थी कि सृष्टि अपने दोनों बेटों के साथ अपनी मां के पास ही लौट आई।

...याद करते-करते मैं अतीत में खो सा गया था। कहते हैं कि अतीत की स्मृतियाँ तथा भविष्य की कल्पनाएँ मनुष्य को उसके वर्तमान का आनंद नहीं लेने देती परन्तु, मेरे विचार से वर्तमान में सही तरीके से जीने के लिये अनुकूलता और

प्रतिकूलता दोनों में रम जाना आवश्यक है। यह भी उतना ही जरूरी है कि अतीत को कभी विस्मृत न होने दो, क्योंकि अतीत का बोध हमें जाने-अनजाने में की गई भूलों से बचाता है...यही सोचते हुये मैं पार्किंग से गाड़ी निकालकर सीधे घर वापिस चला आया, हालाँकि कुछ अदद खरीदारियां करनी थी मुझे किताबों की, पर वह कार्यक्रम अब टल गया था।

चेंज करने और फ्रेश होने के बाद कुछ हल्का-फुल्का लिखने को मन किया। बहुत कोशिश की, पर पेन ने साथ नहीं दिया, सो निढाल होकर बेड पर आ लेटा। पत्नी बिना कुछ बोले एक कप चाय और दो बिस्कुट रख गई। मैंने एक मुस्कान के साथ उसकी ओर देखा तो वह भी मुस्कुआकर अपने काम में फिर से व्यस्त होने के लिये जाने लगी। मैंने हौले से उसके हाथ को पकड़ लिया, पर यह क्या! वैदेही शायद इसके लिये तैयार नहीं थी। वह पहले चौंकी, फिर शरारतपूर्ण ढंग से अपने को बचाकर, छिटक कर दूर दरवाजे की ओर चली गई और वहीं से बोली।

क्या बात, आज बहुत प्यार उमड़ रहा है?

और वैदेही के उस प्रश्न में छिपे आश्चर्य का उत्तर शायद मेरे पास था भी नहीं। आज बहुत दिनों बाद प्रेम पर चिंतन का मन हुआ। लगा कि दरअसल, भावनाएं पत्थर नहीं होतीं, वे गुलाब के फूलों की भांति होती हैं। आप प्रेम दोगे तो प्रेम मिलेगा, हो सकता है पत्थर का बदला आपको पत्थर से नहीं मिले, पर यह उस इंसान की सदाशयता है, और आपका संयोग! यह बात अब मेरी समझ में आने लगी थी, वैदेही के ही सरल ज्ञान के माध्यम से!यादें फिर हावी होने लगीं। लगा कि आज का दिन सृष्टि और उसकी यादों को ही समर्पित रहने वाला है। या तो वर्षों से उससे अभिवादन या हाय! तक भी नहीं हुआ था, और आज जी, आज तो उसकी यादों के पत्रे स्वतः खुलते जा रहे थे। मुझे भी इन पत्रों में अपना वो अतीत ढूँढने की उत्सुकता हो आई, जिनके कारण आज मुझे कुछ ग्लानि और कुछ अपराध-बोध कई वर्षों से हो रहा था, और वह अपराध बोध कई तरफ़ा था। पत्नी की जब जानकारी में आया था कि मेरी सृष्टि से अंतरंगता बढ़ रही है, तो उसने मुझे समझाया था कि इस सम्बन्ध से कोई प्रसन्न नहीं रह सकता, न तुम, न मैं, न बच्चे और ना ही सृष्टि स्वयं और उसका परिवार! उसका कहना था कि यह संबंध प्रेम है ही नहीं और

कहानी

दैहिक आकर्षण भले ही क्षणिक सुख दे, लेकिन आजन्म ऐसी टीस छोड़ जाता है कि पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता। उस समय मुझे पत्नी की इन बातों से बहुत चिढ़ लगती थी क्योंकि जो दिखता है वह हमेशा सच हो, यह जरूरी नहीं है। असलियत यह भी थी कि मेरा और सृष्टि का सम्बन्ध प्रेम का था या नहीं, यह तो तब तक स्पष्ट नहीं था, पर हां, यकीनन यह मात्र दैहिक आकर्षण नहीं था। यह बात या तो मैं जानता हूँ या सृष्टि, कि हम दोनों में अंतरंगता के बावजूद और भरपूर अवसर के बाद भी कोई भी ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था जिसे आम भाषा में स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक आकर्षण अथवा प्यार की परिणति कहा जाता था। मैं स्वयं इस बात के लिये बहुत सतर्क था कि उसका और मेरा मित्रभाव उस मोड़ पर न पहुँच जाये जिसे भटकाव कहते हैं और उस अंधी गली से निकलना बहुत जटिल हो जाता है। इस द्वंद ने मुझे हालाँकि बहुत जटिल स्थिति में रख दिया था पर दिमाग के सामने हमेशा दिल ही जीतता था। अंतरंगता के बावजूद सृष्टि की ओर से ऐसा कोई आमंत्रण भाव भी मैंने उसकी आँखों में नहीं पढ़ा था।

इसी सब झुंझलाहट में कई बार इस प्रसंग के भटकाव और सृष्टि की ओर से भी मन में वितृष्णा के भाव आते थे, परन्तु ऑफिस पहुँचे-पहुँचते फिर से सब सामान्य हो जाता। सृष्टि की भूमिका कई बार मुझे बहुत मासूम लगती और जो भी हो रहा था उसके लिये मैं उससे अधिक स्वयं को दोषी मानता। उसके और मेरे बीच कोई प्रेम-रहित सम्बन्ध नहीं थे, पर असामाजिक सम्बन्ध भी नहीं थे, इसलिये मैं अपने ऊपर उठती अँगुलियों को लेकर अधिक चिंतित नहीं था, बल्कि बेपरवाह हो गया था। इसे वह स्थिति कह सकते हैं जिसमें इंसान अपनी सुविधानुसार मानक तय करता है, नैतिक मूल्यों के!

कभी चोर मन में लगता कि सृष्टि में भी अपना भविष्य खोजा जा सकता है। क्या नहीं है उसमें जिसकी कल्पना मेरे अवचेतन में बचपन से रही है? तब यह भी लगता था कि ओशो ने सही कहा है कि सभी मनुष्य प्रेम करने के पात्र हैं। एक ही व्यक्ति के साथ आजीवन बंधकर रहने की जरूरत नहीं है। यह एक कारण है कि दुनिया में लोग इतने ऊबे हुए क्यों लगते हैं। वे तुम जैसे हंस क्यों नहीं सकते? वे तुम्हारी तरह नाच क्यों नहीं सकते? वे अदृश्य जंजीरों से बंधे हैं जैसे

परिवार, पति, पत्नी, बच्चे. वे हर तरह के कर्तव्यों, जिम्मेदारियों और त्याग के बोझ तले दबे हैं, और तुम चाहते हो कि वे हंसें, मुस्कराएं, और आनंद मनाएं? तुम असंभव की मांग कर रहे हो। लोगों के प्रेम को स्वतंत्र करो, लोगों को मालकियत से मुक्त करो। लेकिन यह तभी होता है जब तुम ध्यान में अपने अंतर्मन को खोजते हो। इस प्रेम का अभ्यास नहीं किया जा सकता, इसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है। तब तक मैंने कभी ओशो के विचार जानने का कोई प्रयास भी नहीं किया था।

पर, अगले ही पल मैं इस कल्पना को भी पाप मानने लगता और इस ख्याल को जबरिया अपने दिमाग से दूर निकाल फेंकता। दरअसल, जब आप वास्तव में किसी से प्रेम करते हैं तो आप अपना व्यक्तित्व, अपनी पसंद-नापसंद अपना सब कुछ समर्पित करने के लिए तैयार होते हैं और यह बात हमें लचीला बनाती है। जब वह प्रेम नहीं होता, तो लोग कठोर होने में सुविधा महसूस करते हैं। परन्तु, जैसे ही वे किसी से प्रेम करने लगते हैं, तो वे हर जरूरत के अनुसार स्वयं को ढालने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह अपने आप में एक अद्भुत, चमत्कारिक और यूँ कहें कि एक शानदार आध्यात्मिक प्रक्रिया है, क्योंकि इस तरह आपके स्वभाव में आधारभूत तथा परिपूर्ण परिवर्तन आते हैं। आपको जीवन में तरह-तरह के रंग दिखने लगते हैं। प्रेम निस्संदेह स्वयं को मिटाने वाला है और यही इसका सबसे खूबसूरत पहलू भी कहा जा सकता है, जरूरी नहीं कि प्रेम खुद को मिटाने वाला ही हो, यह महज विनाशक भी हो सकता है। जिसे आप 'मैं' कहते हैं, जो आपका सख्त व्यक्तित्व है, प्रेम की प्रक्रिया में उसका विनाश होता है, और यही स्वयं को मिटाना है। लेकिन दुर्भाग्यवश यह न तो प्रेम था न अप्रेम। यह असमंजस था, जिसने मुझे अनिर्णय की स्थिति में ला खड़ा किया था और इसकी हवा अब मेरे और सृष्टि के घरों तक जा पहुँची थी जो मेरे लिये भी विनाशकारी हो रही थी। संदेह, अनिश्चय और कलह का वातावरण मेरे लिये कष्टकर होने लगा था उधर ऑफिस में भी फ़ैल रही कुछ चर्चाएँ कानों तक पहुँचने लगी थी।

घर पर न जाने कितनी बार पत्नी की चीख--चिल्लाहटों और तानों से मैं परेशान आ चुका था। जबकि असलियत अभी

कहानी

भी यही थी कि सृष्टि और मैं मात्र अच्छे मित्र थे। इस रिश्ते से इतर हमारे प्रेम की सुगन्धगाहट तो अभी न मेरे दिल ने सुनी थी और शायद न ही सृष्टि को ऐसा भी कोई आभास हुआ होगा। पर, जब भी फुर्सत होती तो सृष्टि और वैदेही की तुलना अपने आप होने लगती। एक तरफ चीख-चिल्लाहट और जली-भुनी बातें, दूसरी तरफ सौम्य, प्रसन्नचित्त और स्वयं में सम्पूर्ण-सी दिखती सृष्टि!

इसी ऊहापोह में न जाने कब एक साल बीतने को था। अब मैंने कुछ कड़ा निर्णय लेने का निश्चय किया। वैसे भी मेरा प्रतिनियुक्ति का समय पूरा हो रहा था। साथ में मेरे पास भारत सरकार में एक और प्रतिनियुक्ति का ऑफर मौजूद था। मैंने न घर बताया, न सृष्टि को, और विभाग से अपने अलविदा की तैयारी कर ली। दो दिन पहले मैंने यह रहस्योद्घाटन किया तो काफी हलचल हुई, हर जगह, जैसाकि प्रत्याशित भी था। सृष्टि भी इस अचानक हुए घटनाक्रम से विचलित हुई, पर मुझे कुछ और करना नहीं था। अब तो मुझे विभाग को रिलीव करना था और दिल्ली जाकर मुझे नये पद पर ज्वाइन करना था।

ठीक तीसरे दिन, ०२ अप्रैल को, मैंने दिल्ली के शास्त्री भवन में मानव संसाधन विभाग के संस्कृति प्रकोष्ठ में परियोजना निदेशक के पद पर अपना योगदान दे दिया। परिवार को भी मैं यहाँ साथ ही ले आया था। मैंने एक सप्ताह में ही कार्यालय और नए जॉब की जिम्मेदारियों को काफी अच्छे से समझ लिया था। यह मेरी दूसरी पारी थी और मेरा इरादा नई स्लेट पर नई इबारत लिखकर अपनी जिन्दगी को फिर से बेहतर और पारिवारिक जीवन को खुशनुमा बनाने का था।

नैनीताल से लगभग ३०० किलोमीटर दूर अपनी नई पारी तो मैं आरम्भ कर चुका था, पर इसका अर्थ यह कतई नहीं था कि मैं सृष्टि से बचकर चोरों की तरह भाग आया था। मैं उससे सम्पर्क में अवश्य बना रहा, लेकिन यह भी व्यवहारिक तथ्य है कि दूर के रिश्ते टिकाऊ नहीं रह पाते, और तब जबकि आप किसी रिश्ते से दूरी बनाना चाहते हैं, तो उनका निष्प्रयोज्य होना स्वाभाविक व नैसर्गिक प्रक्रिया बन जाता है। धीरे-धीरे फोन कॉल्स की संख्या घटने लगी, फिर कॉल की अवधि भी घटी और दिन से हफ्तों, महीनों पर बात आ गई। अब कोई विशेष बात होती तो ही उसका फोन आता था। उधर मैं भी अपने काम

में बहुत व्यस्त हो गया था।

इस बीच जो बात मुझे उलझन में डालती रही वह सृष्टि के प्रति मेरी सोच और उसको लेकर आत्मलानि थी। मुझे लगता था कि उसे मैंने मंझधार में छोड़ दिया था। हालाँकि यह भी उतना ही सच था कि इस रिश्ते को किसी बेहतर परिणिति पर ले जाने का न तो मेरा उद्देश्य था, न ही साहस। कई बार लगता था कि समय और परिस्थितियाँ सृष्टि के मार्ग को स्वयं प्रशस्त कर देंगी, और मुझे यह सोचकर ही सूकून सा मिल जाता।

सृष्टि का बुक स्टोर में दिखना कल की ही तो बात थी। मुझे आज का दिन और भी अच्छा लगा। आज फिर मैंने मॉल रोड का रुख किया, और नारायण बुक डिपो पहुँचकर वहाँ से जाकर अपनी पसंद की चार अदद पुस्तकें छाँटी, उनके अंश पढ़े, काउंटर पर ₹ ४३८ का भुगतान किया और बांस के कागज़ के लिफाफे में रखवा कर बाहर का रुख किया। नजदीक ही हनुमान मंदिर में आरती के बोल, घंटों और घंटियों की मिश्रित आवाजें, गेंदे के फूल और मालाओं की सुगंध, आस-पास के अव्यवस्थित तथा धीमे-से ट्रैफिक के बीच रेंगती जिंदगियाँ कभी पर्यटकों की बातों और वैंडर्स की चिल्ला-पों पर भारी पड़ने लगी थी। मंदिर के बाहर प्रसाद लेने वालों को कुछ लोग श्रद्धा सुमन के रूप में बेसन के लड्डू और गुल्दाने का भोग प्रसाद के रूप में वितरित कर रहे थे। मैले-कुचैले वस्त्र धारण किये तथा भिखारीनुमा बच्चों की ही भरमार दिख रही थी। ...पहले मैं रुका, फिर मैंने निश्चय किया और मंदिर के बाहर से ₹ ५०१ का प्रसाद तथा गेंदे की माला खरीदी। भक्तों की भीड़ से रास्ता बनाते हुये लगभग चार मिनट में, मैं मंदिर की मुख्यमूर्ति तक पहुँच गया था। पुजारी जी को सामग्री दे, टीका लगवाकर और प्रसाद पाकर मैं निश्चिन्त वापिस लौटने लगा। प्रसाद मैंने वहाँ बच्चों की भीड़ में ही बाँट दिया और केवल थोड़ा सा अंश लेकर घर लौटते हुए लगा कि आज शरीर और आत्मा दोनों हल्के हो गये हैं। लग रहा था कि मैंने स्वयं को पा लिया था, वापिस, अपने अतीत से ! यहाँ स्नेह भी था, प्रेम भाव भी था और लचीलापन भी। बस, अब मेरा दृष्टिकोण बदल गया था, और मुझे घर का वातावरण भी खुशनुमा लगने लगा था। और सृष्टि भी प्रसन्न दिख रही थी न? उसकी भी दूसरी पारी अच्छी तरह चलने का मुझे सुबूत दिख गया था।

कहानी

मेरा अपराधबोध उड़न-छू हो गया था और मैंने पत्नी के लिये आर्चीस गैलरी से एक बिना किसी अवसर वाला एक खूबसूरत कार्ड खरीदा। उस पर लिखे सन्देश वाले पृष्ठ को निकल कर दुकानदार को वापिस किया और उससे मांगकर एक कोरा कागज़ इन्सर्ट किया। उस पर जो पंक्तियाँ मैंने लिखी वह यूँ थी—

...प्रेम निश्छल था तुम्हारा,
सदा समर्पित हर पल,
मेरे मन की दुविधा थी वह,
पीता रहा जब मैं कोलाहल,
न दुविधा है, अब न कोई द्वन्द,
तुम हो और सिर्फ तुम रहोगी,
अब इस निर्मल मन.. !

...मैंने देखा, पत्नी चाय बनाने गयी थी, पर चाय बने, उससे पहले वह मेरे कार्ड और उसकी पंक्तियों को पढ़ने का लोभ संवरण न कर पायी। मैं धीरे से, दबे पाँव पीछे आकर खड़ा हो गया। वह गौर से उन्हीं पंक्तियों में खोयी थी। अचानक मुड़कर मुझे देखा वैदेही ने। उसकी आंखें डबडबा आई थी। मैंने कुछ कहे बिना उसे हौले से अपने सीने से लगा लिया। पिछले वर्षों में जो कुछ जाने-अनजाने में मुझसे हुआ था, उसकी ग्लानि कुछ कम हुई लग रही थी।

और हो क्यों न, इस खूबसूरत जीवन की दूसरी पारी जो आरम्भ हो गयी थी। किचन की खिड़की से बाहर देखा तो लगा कि काफी नीचे रुई जैसे उड़ रहे सफ़ेद-आसमानी बादल अचल आकाश की नीली पृष्ठभूमि में बहुत ही रूमानी लग रहे थे।

सम्पर्क: फ्लैट नंबर-१०३, रीगेल रेजीडेंसी, आगरा एन्क्लेव, कामायनी हॉस्पिटल के पीछे, सिकंदरा,
आगरा-२८२००७. (उत्तर प्रदेश) फोन : ९८९७७४११५०, ई मेल: rgsverma.homegmaail.com

कौन जाने पीर पराई

– हरभजन सिंह मेहरोत्रा

आये हुये लोग धीरे-धीरे करके सब चले गये थे। बाबू किशोरी रमण सभ्रम की स्थिति से निकलते हुए चेतन्य हुए तो रसोई से पत्नी के सुबकने की दबी-दबी सी कांपती आवजे उनके कानों में पड़ी। सुलक्षणा रो रही है। कान रसोई की तरफ धरते हुए किशोरी रमण ने एकाग्रचित होकर ध्यान लगाने की चेष्टा की। जी मे आया, उठकर पत्नी के पास जायें उसे तसल्ली दें। पर निढ़ाल होकर वहीं कुर्सी में बैठे रहे। जो कुछ भी था, सब मन में ही उमड़-घुमड़ कर रह गया। फिर कहने का फायदा भी क्या। बीती बातों की लकीरें कब तक पीटतें रहेंगे। अभी-अभी दोनों एक साथ बैठे बातें कर रहे थे। मुखर हो आयी चुप्पी के बीच में अचानक अन्नू का नाम आ जाने से जैसे अन्तर में काँच की किरच मानिन्द टीस जाकर चुभी थी। निशब्द आह प्रस्फुटित हुई थी किशोरी रमण के होंठों से। फिर अपने आपसे ही कह कर रह गये थे, “ किसी को भी न दिखाये ईश्वर.... ऐसे दिन ।” और अनायास ही शिल्पा के रूमाल को जो जाते- जाते यहीं भूलकर छोड़ गई थी। हाथ में पकड़ मसोसने लगे थे।

शिल्पा अपने पति अविनाश के साथ तय की गई तिथि पर भारत आ गई थी। हालांकि उन्हें पूरे प्रकरण से अवगत करा दिया गया था। उन लोगों को ही नहीं, बल्कि सूचना तो सभी को भेज दी गई थी। बावजूद इसके शिल्पा के अलावा बाबू किशोरी रमण के बचपन के मित्र शिवकरन दास भी अपने भरे-पूरे परिवार दो बेटों व बहुओं संग आ विराजे थे। हालांकि किसी के आने का अब कोई मतलब नहीं रह गया था। पर शिवकरन दास जहाँ अपना मित्र धर्म निभाने चले आये थे। वहीं शिल्पा भी मामा-मामी के दुःखों को सांझा करने के ख्याल से आ गई थी। इसके पीछे उसकी यह भी सोच थी कि वीजा निरस्त कराने से अच्छा है, भारत घूम आयें। विदेश से स्वदेश बार-बार तो आना हो नहीं पाता। चलो ऐसे ही सही। सबके आ जाने से बाबू किशोरी रमण और सुलक्षणा का मन हल्का भी हो गया था। शिल्पा के बच्चों और शिवकरन के बेटे-बहुओं में अन्नू ने भी अपने-आपको संभाल लिया था। हालांकि उसे ज्यादा तकलीफ माँ-बाबू जी की मनोदशा को देखकर थी। उसे लगता था चाहे अनचाहे वो ही गलत है। तभी यह सब हुआ है। महीनों पहले से चली आ रही तैयारियां थी जिन्हें अचानक विराम लग गया था। नहीं घर में बने हुए उत्सवी माहौल में मातमी रंग पुत गया हो।

ऐसे कामों में बाजार का काम तो पहले से ही पूरा कर लिया जाता है। बाबू किशोरी रमण ने एक डायरी में सारे समानों की फेहरिस्त, समारोह में होने वाली रीतियों के अनुसार साल भर पहले से बना रखी थी। जिसे बीच-बीच में सिर्फ इसलिए देखा जाता कि कुछ छूट तो नहीं गया है। लेकिन जब भी

कहानी

देखते कुछ न कुछ नया जुड़ ही जाता। फिर उसे लाने की कवायद शुरू होती। अमुक चीज कौन-सी कम्पनी की सबसे अच्छी रहेगी। इसके लिए सँजू बकायदा नेट पर खोज-खबर करता फिर बाबूजी को सारी जानकारियाँ सिलसिलेवार देता। उस ब्राण्ड को गुणवत्ता की कसौटी पर जाँचने के लिए दूसरे ब्राण्ड से तुलनात्मक विश्लेषण किया जाता जब कहीं जाकर उसे खरीदा जाता। ऐसे समय में बुजुर्ब दम्पत्ति के चेहरों में उत्साह का अतिरेक दमक रहा होता। उनके व्यवहार से बेटी की शादी की खुशी का आवेग छिपाये नहीं छिपता।

घर में पहला ब्याह था, 'बिटिया निपट जायें तो बहू लेकर आवे। फिर तीरथ पर निकल जाये।' अक्सर बाबू किशोरी रमण पत्नी से कहा करते थे। उनका मानना था। बेटे-बहू को अपनी तरह जिन्दगी जीने की पूरी आजादी देने के लिए उन्हें अकेले छोड़ देना चाहिए। उनके क्रिया-कलापो में किसी तरह का हस्ताक्षेप या अपने मुख्तयार नहीं बनना चाहिए। जब तक शरीर में हरकत है अपना काम किए जाओ। यह कम खुशी की बात है कि लड़का आज अपने साथ है औरों के बच्चों की तरह बाहर या विदेशों में नहीं है। ठीक है कि महीने के पन्द्रह दिन लगातार साइट में बने रहना पड़ता है। काम ही ऐसा है। समुद्र के भीतर से बाहर आकर कोई रोजाना आना जाना थोड़े ही कर सकता है। वहां काम करने वालों का सम्बन्ध एक तरह से बाहर की दुनिया से बिल्कुल कट जाता है। ऊपर की हलचलों से बेखबर बस अपने काम से मतलब रखना। इन पन्द्रह दिनों में काम ही उनकी दुनिया होती है। वहां के लोगों के लिए उनकी बात-चीत ही खबरें। उनके आपस में हुए हंसी-मजाख और ठठे ही रौनक-मेला होते हैं। काम बड़ा मुश्किल असाध्यपूर्ण जो है। जोखिमों से भरा हुआ। आखिर समुन्द्र से तेल निकालना इतना आसान है क्या? वो तो बाबू किशोरी रमण की मिन्युसपैल्टी की नौकरी थी जिसे सीधी-साधी पटरी पर दौड़ाते बिता दी। रोज सुबह घर से निकलना। दिन भर ड्यूटी बजाना और शाम को टिफिन उठाकर घर की राह थाम लेना। दिनचर्या का अभिन्न अंग बन गया था बाबू किशोरी रमण के लिए। पैंतीस साल की बेदाग मिन्युसपैल्टी की नौकरी कर जाना भी अपने आपमें बहुत बड़ी बात है। बाबू जी किसी के एक गिलास पानी के देनदार नहीं थे। एल.डी.सी. में उनकी नियुक्ति हुई थी और अन्त तक उसी के होकर रहे। ऐसा था उनका सीट का मोह। एक बार काबिज हुए तो कभी जरूरत नहीं समझी

अपने-आपको हटाने की। या यूँ समझ लिया जाये कि उनकी प्रकृति, स्वभाव और कार्यशैली ने उस सिस्टम के लिए उन्हें मिसफिट कर दिया जहां दूसरे अपनी चालाकी और जरा सी उठक-पटक से अपने-आपको कहां से कहां पहुंचा देते हैं। आज के जमाने के हिसाब से अगर उन्हें गावदी कहा जाये तो ज्यादा उचित होगा।

आज की मुम्बई उस समय बम्बई हुआ करती थी, जब वह इस समुद्र के महाद्वीप में आये थे। शौक तो उन्हें पान का भी नहीं था। फिर फालतू खर्चों को कौन पूछे। जो जमा किया बच्चों की तालीम में लगा दिया। प्राविडेन्ट फण्ड, ग्रेच्युटी और बचायी हुई छुट्टियों की एक मुश्त मिली रकम से बान्द्रा में लैट लिया। शेष धनराशि लड़की की शादी के लिए बचा ली। शादी में तो कोई कमी नहीं रखना चाहते थे। सही-सलामत, हंसते-खेलते उनकी लाडो विदा हो जाये तो गंगा नहा लिया। बस इतनी सी साथ थी उनकी। बड़े मनोयोग से, वे और उनकी पत्नी तैयारियों में जुटे हुए थे।

बच्चों में भी सब ठीक-ठाक चल रहा था। मतलब लड़के और लड़की में बात-चीत का सिलसिला बड़े सौहार्द्रपूर्ण तरीके से कायम था। ज्यादा नहीं तो कभी कभार जूह-चौपाटी की सैर पर चले जाना। दोनों के बीच में बनने वाले रिश्ते की शालीनता और नफासत, बेटी की अपनी मां को दोनों के दरम्यान हुई बातों को बताने से जाहिर भी होती थी। जिसका जिक्र सुलक्षण रात को सोते समय बाबूजी से किया करती। किशोरी बाबू गद्गद होते और सोचते बेटी के लिए जो सम्बन्ध तय किया गया है उसकी विश्वसनीयता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। फिर उन्हें भरोसा था, 'जो कुछ भी होता है उसमें प्रभू राम का ही हाथ होवे। वहीं जोड़ियां बनावे..... वहीं पार लगावे.....जै श्री राम.....।' भगवान को असीम धन्यवाद ज्ञापित करते और निश्चिन्तता से आंखे मूंद लेते।

उन्हें लगता था पिछले जन्म के कोई पुन्यकर्म ही होंगे जो इतना बढ़िया सम्बन्ध उनकी झोली में ईश्वर ने डाल दिया। तभी अपनी तरफ से कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखना चाहते थे। दिन-त्योहारों में लड़के वालों को भेजी जाने वाली त्योहारी में बाबू किशोरी रमण दिल खोलकर खर्चा कर रहे थे। एक से एक नायाब तोहफे, खाने-पीने की सामग्री जो बम्बई में नहीं भी मिलती थी। बाहर दूसरे शहरों से मंगवाते। इस बात का खास ख्याल रखते सम्बन्धियों के घर अच्छी से अच्छी नेमते

कहानी

जायें। पीछे बच्ची को कुछ सुनना न पड़े।

बिटिया भी उनकी बड़ी लायक। उच्च शिक्षा हासिल कर नामी कम्पनी में कार्यरत थी। पद, प्रतिष्ठा और अर्थ किसी में कोई कमी नहीं थी। दामाद भी तो किशोरी रमण ने बेटी से कमतर नहीं चुना था। बेंगलोर में एक बहुराष्ट्रीय संस्थान में उच्चस्थ पद में आसीन था। बस बीच में यही एक कांच की किरिच बनी दिख रही थी अन्नू को। लड़का बेंगलोर में और लड़की मुम्बई में। दोनों के बीच में दूरी काफी थी। लेकिन यही तथ्य हुआ था कि अनु को जब तक बेंगलोर में कोई बेहतर विकल्प नहीं मिल जाता वह मुम्बई में ही बनी रहेगी। अनु इस फैसले से असहज हो गई थी। उसने पावस से बात भी की थी। उसका मानना था। नौकरी करना उसके लिए गृहस्थी की अनिवार्यता नहीं है। अपितु गृहस्थी की जरूरतों को देखते हुए नौकरी को प्राथमिकता दी जा सकती है। अभी ऐसे हालात नहीं है कि दोनों के लिए नौकरी जरूरी ही हो। जैसा समय हो वैसा रूख अपनाना चाहिए, न कि जान-बूझ कर ओढ़े गये दायित्वों को निभाने में अपना वर्तमान बर्बाद कर दिया जाये। नहीं तो बाद में पछतावा ही रह जाता है। मेथिल्टा और लायज़ल की तरह।

एक बार अनु ने स्कूल के वार्षिक समारोह में मेथिल्टा का चित्र अभिनीत किया था। बहुत ज्यादा उम्र तो नहीं थी। फिर भी बारहवीं की छात्रा थी, वह। उसके दिल में बहुत गहरे तक असर कर गई थी लायज़ल दम्पति की कहानी। कैसे मेथिल्टा एक कार्यक्रम में जाने के लिए अपनी मित्र से नेकलेस लेकर आती है और वह नेकलेस उससे कहीं खो जाता है। उसकी भरपाई के लिए मेथिल्टा और उसका पति लायज़ल तमाम जिन्दगी कमाते हुए ही गंवा देते हैं और जब हीरे जड़ित नेकलेस की कीमत जितना आवश्यक धन इकट्ठा हो जाता है तो नेकलेस खरीद कर वे अपनी मित्र को देने जाते हैं तो पता चलता है कि वह तो एक नकली हीरों से बना आभूषण था जिसके लिए उन्होंने अपने जीवन के बीस वर्ष ज़ाया कर दिए हैं। जो अब लौटकर दोबारा नहीं आ सकते। मेथिल्टा का किरदार निभाते हुए अनु उसमें इतना खो गई थी कि वह अपने-आप में नहीं रही थी। मेथिल्टा उसकी अन्तरात्मा में समा गई थी। ऐसे ही क्षणों में उसके अन्दर अपने वैवाहिक जीवन को लेकर एक सोच ने जन्म लिया था वह मेथिल्टा का जीवन नहीं जिंजीगी। वह अपनी जरूरतों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देती

लेकिन उसकी संयमित और मर्यादित परिधियों को पावस की सोच नया प्रारूप देने को आतुर थी।

सुनकर अजीब सा लगा था अनु को। साथ ही इस बात का अहसास भी हुआ था, उसे कि वे लोग अपने से कमतर आंकते हैं, उन्हें।

ठीक है कि वे लोग पुराने जर्मीदार हैं। गांव में उनकी बिरादरी रसूखवाली समझी जाती है। भले बाबूजी का घर-गांव से कोई सम्बन्ध नहीं। कोई पुश्तैनी जमीन जायदाद नहीं है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं होना चाहिए कि वे लोग अपने-आपको हिजहायनेस समझे। इतना ही नहीं अन्नू जब भी पावस के परिवार या रिश्तेदारों से मिली तो उसे ऐसा महसूस हुआ कि वे लोग उसे अपने आधिपत्य में लेना चाहते हैं। न सिर्फ उसे बल्कि मां, बाबूजी और उसके भाई संजु सबके साथ उनका व्यवहार एक सा है। आधिकारिक पूर्ण। बाबू किशोरी रमण को भी इसका अहसास उस समय हुआ था जब पावस के मामा ने विवाह स्थल को लेकर बखेड़ा खड़ा कर दिया था।

अच्छा भला मालुम था, सबको। ब्याह का इंतजाम अपने से कहीं अधिक ऊँचे स्तर पर बाबूजी ने किया था। अब कोई दूसरा रिसार्ट या होटेल मिलना मुश्किल था। बाबू जी सिर झुका कर हाथ जोड़े, समर्पण की मुद्रा में आ गये थे लेकिन मामा जी का रूख अड़ियल किस्म का था जो ग्रामाफोन के घिसे रिकार्ड पर अटकी सुई माफिक 'नहीं' पर जा टिका था।

अगले दिन अनु को पावस का फोन भी आया था। वह अपने मामाजी का पक्ष लेते हुए बहुत कुछ बोल गया था। अनु बुरी तरह से आहत हो गई थी उस दिन। बस रोने भर की कसर ही रह थी जो घर जाते वो भी पूरी हो गई। सुलक्षणा का चेहरा अनु की दशा देख विदीर्ण हो गया था। तसल्ली-दिलासा जैसे शब्द पंगु होकर रह गये थे। माँ के बहुत पूछने पर अनु ने पावस के साथ हुई सारी बातें कह डाली थी।

सुलक्षणा अनु के मन को चीन्हती थी। प्रथम उसके अन्दर इसी बात ने जन्म लिया कि अनु के भीतर इस विवाह को लेकर विरक्ति न पैदा हो जाये। इससे पहले कि अनु कुछ सोचे उसे सुलक्षणा ने शादी-ब्याह जैसे नाजुक संबन्धों पर नसीहतों का पुलन्द थमा दिया था। उस समय अनु बिना कुछ कहे वहाँ से हट गई थी। लेकिन सुलक्षणा को समझते देर नहीं लगी थी कि बेटी की खामोशी में किसी घटना का आमन्त्रण छिपा हुआ है। आखिर माँ है बच्चों की थाह पाते उसे देर नहीं लगती। खास

कहानी

तौर से अनु की संवेदना उसे अन्दर तक भींच लेती है। अनु ज्यादा बोलती नहीं लेकिन उसकी मौनता भाँप लेती है सुलक्षणा। आखिर वहीं हुआ। अनु पावस से बातें करने में कतराने लगी। अलबत्ता फोन ही नहीं उठाती। माँ के जोर देने पर सुन भी लेती तो सिर्फ हाँ-हूँ तक ही सीमित रहती। व्हाट्सएप पर भी उससे बातें करने में बचने लगी उसकी उदासीनता को पावस ने नोटिस में भी लिया। और पावस की माँ तक यह बात पहुँचने में देर नहीं लगी। इसी को मुद्दा बनाकर वह एक दिन अपने भाई को लिए अचानक घर पर आ गई। अनु काम पर ही थी।

पावस के मामा ने बातचीत की कमान अपने हाथों में थामते हुए दो टूक फैसला सुना दिया, “अन्नू शायद इस रिश्ते से खुश नहीं है। अगर उसका मन कहीं और लगा है तो अभी कुछ नहीं बिगड़ा। बात यहीं खत्म कर देते हैं।”

बाबू किशोरी रमण तो पल भर तक काठ होकर रह गये थे। उनकी बेटी पर अपरोक्ष रूप से आरोप लग रहे हैं। उनसे जवाब नहीं सूझा था कि क्या कहें अपनी बेटी की सफाई में। सुलक्षणा ने ही जवाब दिया था, “अभी इतनी समझ नहीं है... जो रिश्ते की अहमियत को समझे..... पहले तो पढ़ाई में खपती रही। अब नौकरी में डूबी पड़ी है। बेचारी को आंख उठाने की तो कभी फुर्सत मिली नहीं। जहां तक बात करने का सवाल है। बहुत संकोची है। जल्दी किसी से घुलती-मिलती नहीं। शादी हो जाने पर सबसे खूब बातें किया करेगी।”

पर पावस की माँ से चार हाथ ज्यादा तेज थे, पावस के मामा। बीच-बचाव के लिए किशोरी बाबू ने बिचौलिए को फोन करके बुला लिया था। बिचौलिया मामा को शादी जैसे नाजुक रिश्तों के बारे में समझाता रहा था और इस मामले को ज्यादा तूल न देने को उनसे कहा था।

“लड़कियों को टाइम लगता है नये लोगों से एडजस्ट होने में। फिर उसने अपना घर छोड़कर एक नये घर में नये लोगों के बीच में जाना है। कई लड़कियां तो यही सोचकर डिप्रेशन में आ जाती हैं।”

बिचौलिए की दलील से मन के किसी भी कोनों से उन लोगों को तसल्ली नहीं हुई थी। बाबू किशोरी रमण ने उनको जाते-जाते यह आश्वासन जरूर दे दिया था कि वे अनु को समझाएंगे और वह अब से बातें किया करेगी। लेकिन अनु के ऊपर इन बातों का विपरीत असर पड़ा। पिछली घटनाओं से वह पहले ही खिन्न हुई पड़ी थी। पावस के मामा की ऊल-जलूल सुन

भड़क गई थी। मां समझाती रही थी, सब ठीक हो जायेगा.... शुरू-शुरू में कई बार ऐसा होता है। लेकिन इसका यह मतलब थोड़े ही है कि कोई शादी से इन्कार कर दे। और मामा ने कौन यहां पड़े रहना है.....। पर माँ की दलीलों से अनु का कलान्त मन शान्त नहीं हो सका।

वैसे भी ब्याह की तिथि नजदीक आ गई थी और ऐसे समय इस तरह की बातों के उठने के लक्षण शादी-ब्याह जैसे मामलों के लिए अच्छे नहीं होते। फिर भी बाबू किशोरी रमण का सपत्नीक बाजार गमन वैसे ही चलता रहा जैसे पहले चलता था। लेकिन अन्तर में कोई खटका सा बना ही रह गया था। जो तमाम वस्तुओं के बावजूद निकल नहीं पा रहा था। पर उनका उत्साह देखते ही बनता था। जोश ऐसा कि बाजार करके लौटते, कभी कुछ भूल जाते तो दोनों उल्टे पैर फिर बाजार भाग जाते। उस दिन भी बाजार से वापिस आते प्रेस से निमंत्रण पत्र लाना भूल गये थे। अगले दिन लड़के वालों को उनके घर जाकर पत्रिका देने की बात निश्चित हो चुकी थी। याद आते ही घर की दहलीज से दुबारा बूढ़े दम्पति बाजार की तरफ लौट गये थे।

निमन्त्रण पत्र बाबू किशोरी रमण ने बहुत ही आकर्षक और भव्य बनाये थे। मुग्ध होकर हाथ में लेकर सुलक्षणा को वे निमन्त्रण पत्र दिखा ही रहे थे तभी पत्नी ने उन्हें टोक दिया था, “फोन बज रहा है.....!” झंपते पर हसते हुए उन्होंने कुर्ते की जेब से फोन निकाला था। बिचौलिए का फोन था। रस्मी अभिवादन की औपचारिकता के बाद गोवर्धन दास ने बाजार की चिल्लापों को समझते हुए जरा ऊँचे स्वर में कहा था, “भाई जी लड़के वाले कह रहे हैं..... क्षणांश तक बिचौलिया रूका था। इस बीच किशोरी रमण दो-तीन बार, ‘हैल्लो..... हैल्लो SS I’ कहकर सुनने का प्रयास करते रहे कि शायद गोवर्धनदास बराबर बोल रहे हैं जिसे वह ठीक से सुन नहीं पा रहे हैं। पर उसी दौरान किशोरी रमण को गोवर्धनदास की खरखराती-सी आवाज सुनायी पड़ी,.... “यह शादी नहीं करेंगे। किशोरी रमण समझ नहीं पाये तो बिचौलिए से, “क्या कर रहे हैं जरा ऊँचा बोलिए.....!” कहते हुए उन्होंने अपना दूसरा कान बाजार के शोर-शराबे से बचने के लिए बन्द कर दिया। गोवर्धनदास ने अपनी बात पुनः दोहरा दी थी। सुन कर सकते की हालत में आ गये थे, किशोरी बाबू। गला नींबू निचुड़े.रस की तरह सिकुड़ा जान पड़ा था। “मैं आता हूँ.....

कहानी

फिर बात करता हूँ।” बिचौलिए ने कहते हुए फोन काट दिया था। “क्या हुआ किसका फोन है.....!” सुलक्षणा बोल रही थी। निमन्त्रण पत्र के बण्डल को भर नजर देखते हुए सुलक्षणा से नजरें मिलायी थी। बुक्का फाड़ कर रो देने जैसी हालत हो आयी थी, उनकी। बामुश्किल उन्होंने अपने आपको निमन्त्रित किया था और गोवर्धनदास ने जो कहा था सब ज्यों का त्यों सुलक्षणा को सुना दिया था सुलक्षणा को यूँ महसूस हुआ था जैसे जमीन उसके चारों ओर घूमने लगी है जमीन ही नहीं बल्कि उसका पूरा अस्तित्व ही शून्य की सघन और विरल पल्लों में उतराने लगा है। बाबू किशोरी रमण ने सुलक्षणा को तुरंत थाम लिया और टैक्सी से पीठ टिका दी थी। सुलक्षणा ने खुली-बन्द होती आँखों के बीच में कुछ कहने के लिए मुंह खोला तो शब्द जबान से फिसलकर हवा में गुम हो गये।

बाबू किशोरी रमण ने बड़ी निरीहिता से समान से लदी-फदी टैक्सी को देखा। एकाएक उन्हें कुछ सूझा ही नहीं कि क्या करें। खरीदा सामान जा कर लौटा दें या पीठ पर लदे कुबड़े की तरह ढोह कर घर ले जायें। सुलक्षणा की तरफ देखा। शायद उनका आशय समझ कोई राय दे। लेकिन उसकी हालत उन्हें पहले से ज्यादा खराब नजर आयी। जल्दी से उसे सहारा देते हुए पिछली सीट में बिठा, स्वयं चालक के बगल में जाकर धँस गये थे। सुलक्षणा को संभालते समय हड़बड़ाहट में किशोरी रमण ने निमन्त्रण पत्र का बण्डल टैक्सी की छत में रख दिया था जो गाड़ी के चलते ही नीचे गिर गया।

घर पहुँचते ही अन्नू से सामना हो गया था। यह उसके घर पर होने का समय नहीं था। शायद घर जल्दी आ गई थी।

माँ की हालत अन्नू को अच्छी नहीं लगी थी। बाबू जी की तरफ देखा तो वे उन्हें नजरें चुराते से लगे थे। दोनों के बीच में कुछ कहा सुनी न हो गयी हो। या फिर माँ की तबीयत बिगड़ गई हो। सोच कर ही रह गई थी अन्नू और माँ को सहारा देने के लिए उसके दूसरे कान्धे में अपनी बांह फैलाए उसे कक्ष तक ले जाने लगी तो सुलक्षणा निढाल-सी अनु पर अपना पूरा बोझा प्रेषित करते हुए यकायक रो पड़ी। अन्नू अवाक्, जड़-सी होते हुए विस्फारित से बाबू जी की तरफ देखने लगी थी। किशोरी रमण तो पहले से ही वहाँ पर खड़े होने से बच रहे थे। ऐसी स्थिति में तेजी से अगान्तुक कक्ष की तरफ बढ़ गये थे। वह क्या कहेंगे अपनी बेटी से..... उसका रिश्ता टूट गया है..... लड़के वालों ने शादी से इंकार कर दिया है।

अन्तर में जमा ठोस स्नायु में बहते रक्त की ऊष्णता से तरल होकर बह जाने की प्रक्रिया को अन्दर ही अन्दर पूरी शक्ति से रोकते हुए वह आराम कुर्सी में ढह गये थे। संयम उन्होंने ही अगर खो दिया तो बाकी लोगों का क्या होगा। दिलासाएं तो कब की टूटे बर्तन से रिसते पानी-सी बह गई थी। कुछ भी कह सकने की मनःस्थिति में नहीं थे, वे। लेकिन माँ कैसे छिपा सकती थी अपनी बेटी से। कह दिया था जो फोन से रास्ते में बिचौलिए से बात हुई थी।

अन्नू का चेहरा तो सुलक्षणा उस समय नहीं देख पायी थी। लेकिन कुछ पलों के बाद सनाका खिंचे माहौल में उसकी आवाज कुछ ऐसे सुलक्षणा के दिलों दिमाग में जाकर धँस गई थी। जैसे बर्फ की सिंझी को सूए में घिसते हुए कोई काट रहा हो। वह सिंहर गई थी और अन्नू की तरफ देखा था। उसके चेहरे की माँस-पेशियाँ भिंची हुई और आँखों में जैसे अकाल का सूखा उतर आया था। कह रही थी वह, “रात में ही पावस से व्हाट्सएप में बात हुई थी। उसने लिखा था, ‘.... कल बताऊँगा.... तुम्हें।’ मैंने बिना जवाब लिखे मोबाइल बन्द कर दिया था।” रुकी थी, जैसे हलक में कुछ फस गया हो, “मैंने पहले ही कहा था। रिश्ते निभाना अलग बात है और उन्हें ढोना अलग बिल्कुल अलग बात है।”

“तुम लोगों ने गुड्डे-गुडियों का खेल समझ रखा है..... शादी ब्याह....!” चीखती हुई माँ की आवाज अन्नू के अन्तर में जाकर धँस गई।

“मैंने क्या गलती की.....!” अन्नू का स्वर भी आर्द्र हो आया था। सुलक्षणा बेटी की दशा देख चुप्पी ओढ़ कर रह गई थी। लेकिन अन्दर चल रहा विर्लाप सुर के सप्तम स्वर में हेक लगाते सुलक्षणा को भिगों गया था, “अब क्या होगा..... बिरादरी को बाहर वालों को, किससे-किससे मुँह छिपाते फिरेंगे। यह सारा दान-दहेज क्या अपनी छाती में रख कर साथ ले जायेंगे।” घबरा कर किशोरी रमण भी सुलक्षणा के पास आ गये थे। अन्नू बाबू जी को देख हट गई थी।

“चुप हो जाओ अपने-आपकों संभालो.... बेचारी अन्नू पर क्या बीत रही होगी। मैं गोवर्धन दास से बात करता हूँ। अगर समझूंगा तो पावस या उसके पिता से भी जाकर बात करूँगा।” बड़ी मुश्किल से कह पाये थे, किशोरी बाबू। लेकिन जान गये थे कि रिश्ता तो हाथों से गया। हालांकि जिस तरह से लड़के वालों ने गोवर्धन दास के मार्फत रिश्ते को तोड़ने

कहानी

की सूचना कहलवाई थी उससे किशोरी बाबू को कम हैरत नहीं हुई थी। आखिर हमसे क्या चूक हो गई जिसका यह सिला दिया.....।' सोचते हुए उन्होंने पूरे घर पर नजरें दौड़ाई थी। बिग बाजार सा फैला सामान उनके माथे पर दुविधा की सिलवटें खींच गया था।

अगले दिन बिचौलिया आया था। उसकी बातों से लगा था कि लड़के वालों की नजर में अन्नू का व्यवहार संदिग्ध सा है। गोल-मोल सी बात करते हुए उसने कहा था, “पावस की माँ तो बोल रही थी.... लेने की हमें चाह नहीं बस्स लड़की का चाल-चलन ठीक होना चाहिए।”

“कोई अपने बच्चों के चरित्र का प्रमाण-पत्र तो दे नहीं सकता। स्कूल तो है नहीं कि चाल-चलन ठीक है लिख कर कागज का पुर्जा पकड़ा दिया।” कहते हुए सुलक्षणा का स्वर भर्रा गया था।

बिचौलिए की बात से बाबू जी का मन भी आहत हुआ था। उनकी बेटी का चाल-चलन ठीक नहीं है। उन्हें अन्नू पर रोष हो आया था। गृहस्थी में छोटी-मोटी तकरार तो होती रहती है। फिर अभी शादी हुई नहीं तो दोनों पक्षों को एक दूसरे के दोष भी जल्दी दिखाई देते हैं। कुछ ऊँचा-नीचा बोल भी दिया तो उसे दिल से नहीं लगाना चाहिए। अच्छा खासा रिश्ता था। भला चंगा.....पढ़ा लिखा और अच्छी नौकरी में लगा। आज कल ऐसे सम्बन्ध दिखते ही कहाँ है..... अपने पाँव कुल्हाड़ी मार ली है अन्नू ने.....। फिर जो भी सुनेगा रिश्ता टूटने की बात..... दोष लड़की का ही निकाला जायेगा। जिब्राह होने वाले मेमने सी हालत हो आयी थी बाबू किशोरी रमण की। सब कुछ निकल गया था उनके हाथों से। बेबस से होते हुए सहारा तलाशते फिर रहे थे। गनीमत रही कि उनके मित्र शिवकरन दास और भान्जी शिल्पा शादी टूट जाने की खबर सुनने के बाद भी आ गये थे। उन लोगों के आने से घर के मातम पसरे माहौल की फिजा में जिन्दगी पुनर्जीवित हो सासों लेने लगी थी। सबका

मन टहक गया था। लेकिन उनके चले जाने से उदासियों ने फिर से पाँव पसार लिए थे। अतिथियों के आने से संजू जो छुट्टी लेकर घर में ही टिका हुआ था वह भी साइट में निकल गया था। हाँ अन्नू बराबर काम पर जाती रही थी। किसी ने उसे रूकने के लिए जोर भी नहीं दिया। जिसमें उसका मन रमा रहे। लेकिन आज जरूर बाबू किशोरी रमण के मन में इच्छा जागी थी कि वह अन्नू को घर पर ही रोक लें। सबके चले जाने से घर बिल्कुल अकेला सा लग रहा था। पर उन्हें लगा यह अकेलापन अन्नू को कहीं और ज्यादा मायूस न कर दें। दतर में रहेगी, काम काज करेगी। चार लोगों संग बातें करेगी तो मन चहका रहेगा। फिर शाम परे तो आ ही जावेगी। चुपचाप नाश्ता करते रहे किशोरी रमण। सुलक्षणा जो पास में ही बैठी थी, बोल पड़ी, “आज के दिन अन्नू की विदाई होनी थी।”

कुछ सोचते और वर्तमान की स्थिति से गुजरते किशोरी रमण बोले थे, “नहीं..हो चुकी होती और विदाई से आकर ऐसे ही सन्नाटे में बैठे होते।” फीकी सी मुस्कान बाबू किशोरी रमण के अधरों में आते हुए बिजली के लिश्कारे के मानिन्द तुरंत आलोप भी हो गई।

सुलक्षणा गहरी निश्वास छोड़ते बर्तन उठाकर रसोई की तरफ चली गई। उसका विदीर्ण हो गया चेहरा किशोरी रमण की आंखों से छिप नहीं सका था। रूलाई फूटती है तो घर का कोना तलाशती है। फिर वही हुआ जिसका उन्हें आभास हो गया था। सुलक्षणा की सिसकियां खामोशी तनी फिजा में तैरने लगी थी। काफी देर तक अपनी ही सोचों में गर्क बैठे रहे थे किशोरी बाबू आखिर रहा नहीं गया तो धीमे से उठते हुए रसोई में जाकर सुलक्षणा को कुछ कहने के लिए उसके कन्धे पर हाथ जैसे ही धरा। उनके अन्दर का ठोस जो न जाने कब का पिघल कर बाहर आने को उद्वत हुआ पड़ा था। आंखों का बांध तोड़ बह निकला। सुलक्षणा से लगे वह भी किसी बच्चे की तरह फफक-फफक कर रोने लगे।

३९०/३, शास्त्री नगर, कानपुर - २०८००५ मो०नं० - ९८३९१०१६४७

कागज की थैलियाँ

अमित अहद

बेटी आज इन्हें जरूर बेच आना घर में अन्न का एक दाना नहीं हैं-बूढ़ी अमीना ने कागज की थैलियों से भरा झोला अपनी मासूम पोती असमाँ को पकड़ाते हुए कहा-अगर आज ये नहीं बिकी तो फाके रखने की नौबत आ जायेगी। दादी मैं पूरी कोशिश करूँगी-आठ साल की मासूम असमाँ ने कहा-कि आज खाली हाथ लौटना ना पड़े मैं वापस आते वक्त बाजार से आटा भी लेती आऊँगी।

अच्छा अब तुम जाओ-अमीना ने कहा-और जल्दी लौट आना।

ठीक हैं दादी-असमाँ झोला कंधे पे टांगकर बाजार की तरफ चल दी।

अमीना आँखों से अन्धी थी, घर में उसके व असमाँ के सिवा कोई नहीं था एक हादसे में उसके जवान बेटी व बहू की मौत हो गई थी घर में कोई मर्द बाकी नहीं बचा था बुढ़ापे में जवान बेटे की मौत ने अमीना की कमर तोड़ दी थी। रोजगार का जरिया नहीं था इसलिए अमीना कागज की थैलियाँ बनाकर जैसे तैसे अपना व पोती का पेट पाल रही थी बड़ी मुश्किल से घर का गुजारा हो रहा हैं।

अंकल कागज की थैलिमाँ दूँ-मासूम असमाँ ने मोटी तोंद वाले सेठ से पूछा-बहुत सस्ती हैं चार रूपमे में पचास।

नहीं चाहिए-सेठ ने रूखी सी आवाज में जवाब दिया।

अंकल ले लीजिए ना-असमाँ ने गुजारिश की-बहुत सस्ती व अच्छी हैं।

जब कह दिया कि नहीं चाहिए -सेठ ने असमाँ को हड़का दिया-क्यों दिमाग चाट रही हो।

असमाँ अपना सा मुँह लेकर रह गई। अब जा यहाँ से-तोंद वाले सेठ ने कहा-चले आते हैं कागजी थैलियाँ लेकर।

असमाँ झोला उठाकर दूसरी दुकान की तरफ चल दी।

भईमा कागज की थैलिमाँ दूँ-असमाँ ने फिर कोशिश की-बहुत सस्ती व अच्छी हैं। दुकान पे पन्द्रह साल का लड़का बैठा था उसने असमाँ की तरफ मुँ देखा जैसे उसे उसकी बात समझ ना आई हो।

कमा हैं ?-लड़के ने पूछा-कमा चाहिए ?

कुछ नहीं चाहिए-मासूम असमाँ ने कहा-मैं तो कागज की थैलियाँ बेच रही हूँ, तुम्हें दूँ।

नहीं मुझे नहीं चाहिए-लड़के ने जवाब दिया-वैसे भी अब कागज की थैलियों का इस्तेमाल कौन करता हैं सब प्लास्टिक की थैलियाँ ही इस्तेमाल करते हैं।

कहानी

मगर मेरी थैलियाँ सस्ती हैं-असमाँ ने तर्क दिया-चार रुपये में पचास थैलियाँ।

मुझे फिर भी नहीं चाहिए-लड़के ने दो टूक कहा-ये समान डालते ही फट जाती हैं। असमाँ ने बहुत मिन्नतें की मगर लड़के ने भी उसकी थैलियाँ नहीं ली। सुबह से शाम हो गई थी मगर अब तक उसकी थैलियों का एक भी बंडल नहीं बिका था एक-एक करके उसने बाजार की सारी दुकानों पे पूछ लिया था मगर कोई भी कागज की थैलियाँ लेने को राजी नहीं था। भूख प्यास से असमाँ का बुरा हाल हो रहा था उसने सुबह से कुछ खाया पिया नहीं था घर में खाने को कुछ था ही नहीं। असमाँ ये सोच सोचकर परेशान थी कि अगर आज भी थैलियाँ नहीं बिकी तो वो और उसकी दादी क्या खायेगी, दिल में ये खयाल आते ही उसकी आँखों में पानी आ गया। बाजार में सिर्फ एक ही ऐसी दुकान बची थी जिस पर वो गई नहीं थी दिल में आखिरी उम्मीद लिए वो उस दुकान पे पहुँची। दुकान का मालिक रुपये गिनने में मशगूल था।

कागज की थैलिमाँ दूँ अंकल-असमाँ ने दर्द भरी आवाज में कहा-बहुत सस्ती व अच्छी हैं। दुकान मालिक ने नजर उठाकर असमाँ की तरफ देखा। असमाँ एक फटा सा गंदा सा फ्रॉक पहने हुए थी भूख ने उसके नाजुक बदन को कमजोर कर दिया था बालों में धूल भरी हुई थी। असमाँ आँखों में उम्मीद लिए दुकान मालिक की तरफ देख रही थी, दुकान मालिक शामद उसकी हालत को समझ गया था इसलिए उसने पूछा-कितने में कितनी हैं ?

चार रुपये में पचास हैं अंकल-असमाँ ने मासूम लहजे में कहा-चाहे गिन लेना।

चार रुपये में पचास महँगी हैं-दुकान मालिक ने कहा-ठीक लगाओ चार बंडल ले लूँगा तीन रुपये में पचास लगाओ।

अंकल इससे कम में तो घाटा रहेगा।

घाटा रहेगा तो रहने दो-दुकान मालिक बोला-मुझे नहीं चाहिए वैसे भी अब कागज की थैलियों को कौन पूछता है सब प्लास्टिक की थैलियाँ ही इस्तेमाल कर रहे हैं।

हालांकि तीन रुपये में बेचकर असमाँ को घाटा था मगर जब उसे अपनी भूखी दादी की माद आई तो वो मे घाटा सहने को तैयार हो गई।

ठीक हैं अंकल ले लो-असमाँ ने चार बंडल झोले से निकालकर दुकान मालिक को देते हुए कहा-आज घाटा ही सही। दुकान मालिक ने बारह रुपये असमाँ के हाथ पे रख दिये। रुपये हाथ में आते ही असमाँ के उदास चेहरे पे मुस्कान आ गई रुपये लेकर वो किरयाना की दुकान पहुँची वहां से बारह रुपये का आटा लिया और घर की तरफ चल दी। उसकी दादी अमीना घर के बाहर बैठी उसका इन्तजार कर रही थी।

दादी मे लो आटा-असमाँ ने आटे की थैली दादी को देते हुए कहा-बहुत जोर की भूख लगी है जल्दी से रोटी बना दो।

सब थैलिमाँ बिक गई-रोटी सेंकते हुए दादी ने पूछा-क्या कुछ बच गई ?

सारी कहाँ बिकी-मासूम असमाँ ने कहा-बड़ी मुश्किल से चार बंडल बिके हैं दादी अब कोई कागज की थैलियाँ नहीं लेता सब कहते हैं कि प्लास्टिक की थैलियों का वक्त आ गया है दादी क्यों ना हम प्लास्टिक की थैलियाँ बनाये। असमाँ ने ये बात कह तो थी मगर उस मासूम को इतनी समझ नहीं थी कि प्लास्टिक की थैलियाँ बनाने के लिए मशीनों की जरूरत पड़ती है और मशीनें लगाने के लिए बहुत पैसे की जरूरत होती है और उनके पास तो पेट भरने तक के पैसे नहीं थे। नमक के साथ रोटी खाकर अमीना व असमाँ खाट पे लेट गई थी आज तो पेट भर गया था मगर कल की फिक्र सताने लगी थी बड़ी मुश्किल में दादी पोती दिन गुजार रहे थे अमीना चाहती तो भीख मांगकर अपना पेट भर सकती थी मगर उसकी खुददारी ने उसे ऐसा करने से रोक रखा था वो असमाँ को पढ़ाना चाहती थी मगर तंगहाली ने उसे मजबूर कर रखा था वो मेहनत करके ही अपना व पोती का पेट पालना चाहती थी इसलिए वो पोती के साथ मिलकर कागज की थैलियाँ बनाया करती थी जिस दिन कागज की थैलियाँ बिक जाती थी रोटी खाने को मिल जाती थी और जिस दिन नहीं बिकती थी दादी पोती दोनों को भूखा ही सोना पड़ता था।

सुबह हो गई थी दादी सोकर उठ चुकी थी मगर असमाँ अभी तक सोई हुई थी पूरा दिन बाजार में इधर-उधर घूमने के सबब वो बहुत थक गई थी दादी ने उसके उलझे बालों में उंगलियाँ फिराते हुए कहा-उठ जा बेटी तुझे थैलियाँ बेचने जाना हैं असमाँ ने कुनमुनाते हुए आँखें खोल दी। असमाँ ने नहाकर दादी

कहानी

के धोये कपड़े पहने। दादी ने उसे रात के बचे हुए आटे से रोटी सेंक दी, रोटी खाकर असमाँ थैलियों से भरा झोला लेकर बाजार की तरफ चल दी उसके चेहरे पे आज फिर एक नई उम्मीद थी उसने बाजार की एक-एक दुकान से रोज की तरह पूछना शुरू किया मगर हर दुकान से यही जवाब मिलता-नहीं चाहिए। जैसे-जैसे शाम करीब आ रही थी असमाँ की उम्मीद टूटती जा रही थी हर दुकान वाला उसकी कागज की थैलियाँ देखते ही कहता कि अब इनका वक्त नहीं रहा अब तो प्लास्टिक की थैलियाँ ही चलती हैं असमाँ का नन्हा सा दिल उनकी ये बातें सुनकर बुझ सा जाता लेकिन दादी का भूख से परेशाँ चेहरा याद आते ही उसके बुझे दिल में फिर से नया जोश भर जाता। उसने एक-एक करके अपने गाँव की सब दुकानें छान मारी मगर नतीजा सिर्फ ही रहा, आज उस दुकान वाले ने भी उसकी थैलियाँ नहीं ली जिसने तरस खाकर कल थैलियाँ ले ली थी। बुझे दिल से असमाँ घर पहुँची उसकी दादी उसका ही इन्तजार कर रही थी, असमाँ ने कंधे पर लदा झोला उतारकर जमीन पे पटक।

तू आ गई बेटी-झोला पटकने की आवाज सुनकर दादी ने कहा-बाजार से आटा ले आई।

आज थैलियाँ नहीं बिकी दादी-असमाँ ने टूटी आवाज में कहा-आज पूरे दिन दर दर की ठोकें खाकर भी कुछ नहीं मिला।

असमाँ का जवाब सुनकर दादी का दिल भी बुझ गया वो सोचने लगी कि वो तो आज भूखी रह लेगी मगर ये नन्ही बच्ची कैसे भूख बर्दाश्त कर पायेगी ये सोचकर वो बहुत परेशान नजर आने लगी उसकी अन्धी आँखों में आँसू आ गये। दादी की आँखों में आँसू देखकर असमाँ का दिल भी भर आया।

दादी तुम क्यों रो रही हो ?-दादी के आँसू पोंछते हुए आसमाँ ने पूछा-मुझे बताओ ना।

मैं इसलिए रो रही हूँ बेटी-दादी ने कहा-कि मैं तो भूख बर्दाश्त कर लूँगी मगर तू कैसे भूख बर्दाश्त करेगी मेरी बच्ची।

मैं आज बहुत थकी हुई हूँ मुझे नींद आ रही है-असमाँ ने कहा-मैं सो जाती हूँ सोते हुए मुझे भूख भी नहीं लगेगी।

मेरी बच्ची-असमाँ की मासूम बातें सुनकर दादी ने उसे गले लगा लिया।

ऐ खुदा हम पे तरस खा-दादी रोते हुए गिड़गिड़ाई-मुझसे इस बच्ची की भूख देखी नहीं जाती, तूने मुझे भी आँखों से महसूस कर रखा है वरना मैं ही कहीं मेहनत मजदूरी करके इसका पेट पाल लेती मेरे मौला तरस खा हम गरीबों पे। दादी के दिल से आहें निकल रही थी। दिनभर की थकी होने के सबब असमाँ को खाट पे लेटते ही नींद आ गई थी वो आज भूखी ही सो गई थी दादी को अभी तक नींद नहीं आई थी उसका मन बहुत परेशान था।

सुबह होते ही असमाँ झोला लेकर बाजार की तरफ निकल पड़ी रोट की तरहा उसने हर दुकान पे थैलियों के लिए पूछा मगर हर दुकान से एक ही जवाब मिला -नहीं चाहिए। असमाँ एक दुकान के सामने खड़ी हो गई दुकानदार ग्राहकों को सामान दे रहा था।

कितने पैसे हुए सेठ जी-ग्राहक ने पूछा।

पचास रूपमे -दुकानदार बोला।

मे लीजिए पचास रूपमे-ग्राहक ने कहा-सेठ जी इस सामान की पॉलिथीन डबल कर दीजिए।

पॉलिथीन फटेगी नहीं सिंगल ही ठीक है-दुकानदार ने कहा-वैसे भी सरकार प्लास्टिक के इस्तेमाल पे रोक लगाने जा रही है आज अखबार में ये खबर आई है। सरकार का तर्क है-दुकानदार समझा रहा था-कि पॉलिथीन से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो रही है इसके लगातार इस्तेमाल से जमीन बंजर हो रही है पशुओं के लिए भी ये बहुत खतरनाक हैं पशु अगर गलती से इसे खा ले तो उसकी मौत हो जाती है ये पॉलिथीन बहुत प्रदूषण फैला रही है फिर से वो ही कागज की थैलियों का जमाना आयेगा फिर कहां से थैली डबल कराओगे।

जमाना जब आयेगा देखा जायेगा-ग्राहक ने कहा-फिलहाल तो आप पॉलिथीन डबल ही कर दीजिए मुझे दूर जाना है मेरे पास थैला भी नहीं है। दुकानदार ने थैली डबल कर दी ग्राहक सामान लेकर चल दिया। पास ही खड़ी असमाँ ये बातें सुन रही थी वो दिल ही दिल में बहुत खुश थी कि फिर से कागज की थैलियों का दौर लौट आयेगा फिर से उनके दिन संवर जायेंगे उन्हें भरपेट रोटी खाने को मिला करेगी आज उसकी थैलियाँ चाहे कोई ना ले लेकिन एक दिन लोग फिर से उसकी ही थैलिया मांगेंगे। दिल में इसी तरह के ख्याल लिए वो घर लौट आई

कहानी

हालांकि आज भी उसकी थैलियाँ किसी ने नहीं ली थी, मगर दुकानदार की बात सुनकर उसके दिल में एक अजीब सी खुशी थी।

दादी ने पूछा कि बाजार से आटा ले आई तो उसने वहीं जवाब दिया जो पहले दिन दिया था उन्हें भूख से लड़ते हुए दो दिन हो गये थे इन दो दिनों में किसी पड़ोसी ने भी आकर उनका हाल चाल नहीं पूछा था मे इस दुनिया की कड़वी हकीकत है कि अच्छे दिनों में आपके हजार दोस्त बन जाते हैं मगर बुरे दिनों में अपना सामा भी साथ छोड़ देता है। दादी पोती दोनों भूखे खाट पे लेटे हुए थे भूख के सबब उन्हें नींद नहीं आ रही थी असमाँ ने दादी को अखबार वाली बात बताई थी तो दादी ने कहा था—प्लास्टिक की थैलिमाँ बनाने वाले बहुत अमीर लोग हैं, वो सरकार को पैसे खिला देंगे प्लास्टिक की थैलिमों पे रोक नहीं लगेगी, आज का दौर पैसे का दौर है हर चीज बिकाऊ है ईमान जज्बात सच्चाई उसूल। कागज की थैलिमों का दौर फिर से नहीं आयेगा उनके दिन नहीं संवरेगे। दादी की बात सुनकर असमाँ के नन्हे से दिल को बहुत ठेस पहुँची थी लेकिन हकीकत भी महीं थी। दादी ने बड़ी मुश्किल से असमाँ को कहानी सुनाकर

सुलामा था। अगले दिन असमाँ फिर से थैलिमाँ बेचने बाजार गई मगर उस दिन भी वो ही हुआ जो अक्सर होता था, भूख से असमाँ बीमार पड़ गई थी उसे तेज बुखार हो गया दादी उसके माथे पे पानी की पट्टिमाँ गीली करके रख रही थी ताकि उसका बुखार उतर जामे, बुखार की दवा लेने तक के पैसे नहीं थे, उनके पास रात का वक्त था भूख से तड़पते हुए असमाँ ने दम तोड़ दिया उसके गम मे उसकी दादी ने भी दम तोड़ दिया।

अगले दिन सुबह जब देर तक अमीना के घर का दरवाजा नहीं खुला तो पड़ोसियों ने अन्दर झाँककर देखा अन्दर खाट पे दादी पोती की लाश पड़ी थी कुछ ही देर में पूरे गाँव में उनकी मौत की खबर फैल गई। लोग घर के आगे खड़े तरह-तरह की बातें बना रहे थे कोई कह रहा था—बड़ी खुददार थी अमीना, भूख से दम तोड़ दिया मगर किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। कोई कह रहा था—हमें पता होता कि इतनी तंगहाली है तो हम इमदाद कर देते। कोई कह रहा था—बहुत बुरा हुआ खुदा ऐसी मौत किसी को ना दे। सब बातें बना रहे थे मगर दादी पोती के लिए किसी की आँखों में एक भी आँसू नहीं था।

ग्राम-पोस्ट-मुजफराबाद, जिला-सहारनपुर (उत्तर प्रदेश), पिन-२४७१२९, फोन-०९६७५१५०५३८

डॉ. आरती 'लोकेश' गोयल

एक सुशिक्षित सभ्य परिवार में गाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश में जन्म हुआ। स्कूली शिक्षा, स्नातक तथा बी.एड. की दीक्षा गाज़ियाबाद से प्राप्त की। एम.एम.एच. महाविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य में मास्टर्स की डिग्री में कॉलेज में द्वितीय स्थान प्राप्त किया। तत्पश्चात् इंदिरा गाँधी विश्वविद्यालय, दिल्ली से हिंदी साहित्य में स्नातकोत्तर में यूनिवर्सिटी स्वर्ण पदक प्राप्त किया। बनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान से हिंदी साहित्य में पी.एच.डी. की उपाधि हासिल की। पिछले छब्बीस वर्षों से अध्यापन कार्य से जुड़ाव है। डी.पी.एस. शारजाह, यू.ए.ई. में उपाध्यक्ष, हिंदी विभाग के रूप में कार्यरत। विद्यालयीन हिंदी वार्षिक पत्रिका 'अभिव्यक्ति' का २ बार संपादन कार्यभार भी संभाला।

अब तक दो उपन्यास 'रेशमी का पहरा' तथा 'कारागार' पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुए हैं।

एक काव्य-संग्रह 'काव्य रश्मि' तथा शोध ग्रंथ 'रघुवीर सहाय के गद्य में सामाजिक चेतना' की ई-पुस्तक प्रकाशित है।

कहानी 'साँच की आँच', 'अवलम्ब' तथा 'आकार' प्रतिष्ठित पत्रिकाओं 'शोध दिशा', 'इंद्रप्रस्थ भारती' तथा 'गर्भनाल' में क्रमशः प्रकाशित हुए हैं।

अंग्रेज़ी भाषा में दो आलेख खाड़ी देशों की साप्ताहिक पत्रिका 'फ्राइडे' में प्रकाशित हुए।

शोध-पत्र, लेख, लघुकथाएँ एवम् कविताएँ आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा साझा-संग्रहों में प्रकाशित हैं।

लेखक पेज	:	https://www.amazon.com/author/drartilokesh
संपर्क	:	arti.goel@hotmail.com; arti.goel1@gmail.com
पत्राचार	:	P.O.Box 99846, Dubai. U.-E.
स्थायी पता	:	उ-८ / १५२, यमुना विहार, दिल्ली ११००५३

इच्छा मृत्यु

कनाडा में फ़ोन से
आज शामपाया
पिता की मृत्यु का
दुखद समाचार
गतमाह ही तो
वृद्ध पिता से मिला
कुछ दिन सेवा-टहल कर
वापिस सँभाला था
छूटा कारोबार
अपना व्यापार

आवश्यकता एक
सीधी उड़ान में
टोरेण्टो से लुधियाना
सीट के व्यवधान में
लगता था रूँ कि
माँगी गई है सीट
भिक्षा के नाम में
कनाडा के राजदूत की
प्रधानमंत्री की कुर्सी
दी कैसे जाती
बिना किसी वोट के
प्रसिद्धि के नोट के

वे सँभालते होंगे
मृत काया को
बर्फ़ के ढेर में
उसके पहुँचने तक
राह देखने के फेर में
तड़पाता था दृश्य
रुके रहे होंगे

सब रिश्तेदार
लाड़ बहुत जिसपर
सबसे अधिक प्यार
पिता के शव के
अंतिम दर्शन को
आएगा अवश्य

कहाँ से ताकत लाऊँ
कौन से शब्द जुटाऊँ
वहाँ तीन भाइयों को
पत्थर हुई माँ को
कैसे यह सुना दूँ
कैसे यह बता दूँ
तन से यहाँ हूँ
मन से वहाँ हूँ
मेरे मन के साथ ही
मुझको मान लेना वहीं
भेज दूँगा खर्च जो
मेरे हिरसे की बही

एक तिपाई जो दिखी
चाय की केतली तले
खुद बहलाने को
विचार आए भले
तीन पाये बहुत रहे
निर्जीव तल के लिए
तीन कंधे कम नहीं
अर्थी-बल के लिए

समय ने पलटा खाया
इतिहास ने खुद दोहराया
इकलौता सुत अब
चला गया विदेश में

सेवानिवृत्त वह पिता
लौट आया स्वदेश में
सुंदर एक घर में
ग्लानि मिटाने को
देशप्रेम निभाने को
अपनी मिट्टी के लिए
अपनी भूमि पाने को
जर्जर कृशकाय ले
पलंग से जकड़ा हुआ
इंतज़ार करता है
बेटे के हाथों ही
हो दाह संस्कार
अंतिम चाह रचता है

गिनती की साँसें
देख परिवार ने
पिता के इस हाल की
पुत्र को दी खबर
कहीं मुँद जाएँ आँखें
बेटा घबराया
अगली ही उड़ान से
पितृभूमि पर आया
गिन-गिनकर साथ अपने
तेरह दिन वह ले लाया
चौदहवें दिन की छुट्टी
न मिल सकी थी दफ़्तर में भी कुछ
फ़ाइलें अटकी पड़ी थीं

बेटे को देखकर
चहक उठी थीं
साँसों की तितलियाँ
चमक उठी थीं

आँखों की पुतलियाँ
समझदार पिता ने
भावनाओं के तंतुओं से
बुन निज कफ़न को
चाहत की सूखी लकड़ियों से
सजाकर अर्थी
लिटा दिया तन को
टूँस अपने नथुनों में
झलक के स्पर्श को
स्वाभिमान के हिम से
ढाँपकर बदन को
तैयार कर लिया था
बेकल मन को

प्राणों का संचार
श्वास का निखार
दर्द का परिहार
उसे देख उस पल हुआ
मेरे फिर जी उठने से
निष्फल सेवा-टहल से
तेरह दिन का ट्रिप
बर्बाद न हो जाए
मौत के मातम को
पुनः न चक्कर लगाए
पुत्र के पग धरते ही
कक्ष में भरते ही
मुँद लीं सदा को
अपनी पथराई आँखें
पखेरु ने त्याग दीं
प्राणों की पाँखें फलीभूत अब हुआ उसे
जिसका न कोई भान
प्राप्य कई जनम गए
इच्छा मृत्यु का वरदान

नंग-धड़ंग बच्चे

हवाई-अड्डे पर उतर
मोहित सहसा कर गई
मिट्टी पर बरखा की बूँदों-सी
स्वदेश की गंध
फेफड़ों में भरने को
मादक अहसास
हृदय का उन्मादी स्पंदन
संगीत ढला मंद मंद
निकल चलीं घर ओर
मेरे साथ-साथ
उग से उग मिलाती
पग-पग पर मचलतीं
बिसरी हुई यादें
नन्हीं-सी मुलाकातें
कही-अनकही बातें
सहेजी-सी सौगातें

प्रवासी मन का चोर
होता रहा विभोर
जब याद आती
छज्जे से दिखती भोर
थाम कर छोरे
घर से बाँधी डोर
दिनभर दाना चुग
हर साँझ शिथिल पंछी
विश्रांति चाह में
उड़ चलते नीड़ ओर

राह में लुभाते
मेघ छाए गगन
ऊँचे विशाल भवन
सुरभित पवन
हवेली पुरानी
हरियाली सुहानी
क्रिकेट के मैदान
टूटा-बिखरा सामान

नंग-धड़ंग बच्चे
मारते झपट्टे
चूती थीं छत जहाँ
दूर झोंपड़-पट्टे

रिमिझिम फुहार
लालबत्ती पर
रुकती कार
वह भीगा बच्चा
नंगे निज तन पर
हाथ मलता जाता था
शरीर के मैल को
धोता था
या बढाता था
कुछ दान करने को धर्म नाम करने को
पुण्य काम करने को
पसीजते दिल से
पास उसे बुलाकर
हाथ जेब में डालकर
कुछ सिक्के निकालकर

उलटे भी
पलटे भी
फैलाए भी
छाँटे भी
डॉलर थे
यूरो थे
पोन्ड्स थे
फ्रैंक थे
रुबल, रियाल
दिरहम, दीनार
सिक्का एक भी
हाथ पड़ा नहीं
जिसपर लिखा हो
भारत सरकार
समझ से परे था
कि ये ही अभागे हैं
या मैं लाचार

कभी न भूल पायेंगे गोर्की, प्रेमचंद और लूशुन को

तरसेम गुजराल

राणा प्रताप की हाल में ही आयी किताब 'गोर्की, प्रेमचंद और लूशुन की जाकिट पर पिछली तरफ छपे गोर्की, प्रेमचंद और लूशुन के शब्द इतने समय बाद भी कुछ सोचने के लिए विवश इसलिए भी करते हैं कि भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद और आवारा पूंजी के चलते रूस (गोर्की का देश), भारत (प्रेमचंद का देश) और चीन (लूशुन के देश) में हम जिन अराजक, हिंस्र दमन के हालात के रु-ब-रु हैं, वहां धरती शायद एक चक्कर काट कर वहीं पहुंच गई हो जहां क्रांति पूर्व असमानता, जहालत और पोंगा पथ का विस्तार था। भारत तब उपनिवेशवाद के विरुद्ध युद्धरत था, चीन को अफीम के प्रसार से भी मुक्त होना था, सोवियत संघ रूस की जनता भी नाटकीय परिस्थितियों से जूझ रही थी। ऐसी विकट परिस्थितियों में गोर्की, प्रेमचंद, लूशुन ने साहित्य के माध्यम से उस परिवर्तनकामी चेतना की लौ जगायी जो शोषण को शोषित और शोषक के बीच का व्यक्तिगत मामला न समझ कर दुनिया के लाखों लोगों के बीच इस अन्याय की दास्तान लेकर जाना चाहते थे। 'साहित्य के कार्यभार' के तहत अलेक्सेंद्र तोलस्तोय ने कहा सौन्दर्यवाद के मुकाबले में मैं भव्य यथार्थवाद साहित्य को रखता हूं। इसका कार्यभार मानव का निर्माण करना है इसकी विधि प्रतिनिधि पात्र की रचना है। मानवजाति का कल्याण, उसे सम्पूर्णता की ओर ले जाना इसका प्राणाधार है। इसकी निष्ठा मानव की महिमा में है। इसका मार्ग सीधे उच्चतम ध्येय की ओर है। यह भाव-संवेग और उत्तेजना में महान व्यक्ति के प्रतिनिधि पात्र की रचना करता है, उनके लिए साहित्य नये भवन की एक आधारशिला रहा।

गोर्की लेखन कार्य को फोटोग्राफी से अलग और ऊपर मानते रहे। जिस प्रतिनिधि पात्र की बात अलेक्सेंद्र तोलस्तोय करते हैं, उसे गोर्की ज्यादा स्पष्ट तरीके से बतायें हैं। उनके अनुसार अगर लेखक किसी परिचित दुकानदार, सरकारी अधिकारी या मजदूर का चित्रण करता है, तो वह केवल एक ही व्यक्ति का कमोवेश सच्चा फोटो उतारता है और वह एक फोटो से अधिक कुछ नहीं होगा। इसका सामाजिक अथवा शिक्षात्मक महत्व कुछ भी नहीं होगा तथा मानव या जीवन के संबंध में हमारे ज्ञान को बढ़ाने में इससे कोई सहायता नहीं मिलेगी।

परंतु लेखक यदि बीस, पचास या एक सौ दुकानदारों सरकारी अधिकारियों या मजदूरों की प्रमुखतम अभिलाक्षणिक वर्ग विशेषताओं, आदतों रुचियों, भाव व्यंजना, विश्वासों तथा आचार विचार का सारांश निकालने में सफल हो जाता है, तो वह एक टाईप (नमूने) की रचना करता है और यह कला है।

गोर्की ने समाज की वास्तविकता से और ज्ञान प्रदान करने वाली पुस्तकों से बहुत कुछ सीखा और लोगों को सीखने की प्रेरणा दी। वे कहा करते थे- 'उन किताबों से याद करो जो ज्ञान के स्रोत हों, क्योंकि सिर्फ ज्ञान ही वंदनीय होता है। साथ ही तुम्हें आत्मिक रूप से मजबूत, ईमानदार और बुद्धिमान मनुष्य से सच्चा प्रेम करने लायक, मानवीय श्रम के प्रति आदरभाव सिखाने वाला और मनुष्य के अथक एवं कठोर परिश्रम से बनी भव्य कृतियों को सराहने लायक बना सकता है।

ज्ञान सदा सत्य का पक्षधर्मी होता है और सत्य के अस्तित्व का नकार शोषित आदमी के विपक्ष में तथा उत्पीड़न के पक्ष में आकर खड़े नहीं होना है। 'गोर्की, प्रेमचंद और लूशुन' (पुस्तक में दर्ज है कि स्कूली शिक्षा उन्होंने केवल छह महीने की ही पूरी की थी। जनता के विश्वविद्यालय में पढ़ कर ही वह इतने बड़े लेखक बने। पाँच साल की उम्र में ही पिता का साया सिर से उठ गया। माँ अपने बेटे के प्रति इसलिए कठोर हो गयी कि वह उसे अपने पत्नी की मौत के लिए, जिनके साथ बहुत ही सुखी जीवन बीत रहा था, जिम्मेवार मानती थी। किन्तु इसी समय गोर्की के जीवन में उसकी लड़की ने प्रवेश किया और बाद में लेखक के रूप में उसके व्यक्तित्व निर्माण में, उसमें कहानी कहने की कला का बीजारोपण करने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। नानी उन्हें कहानियाँ सुनाती थी जबकि नाना का घर बैर और वैमनस्य के विषैले धुँएँ से भरा हुआ था। हर आदमी के दिल में दूसरे के प्रति वैमनस्य तथा घृणा का भाव था। वयस्कों के दिमाग तो इस धुँएँ से बिल्कुल विषाक्त हो चुके थे, बच्चे भी उसके प्रभाव से अछूते न थे। नाना ने एक बार उन्हें पीटते-पीटते अधमरा कर दिया था।

जब गरीबी और तंगदस्ती के दिन आये, नाना-नानी से अलगाव हो गया। गोर्की को कूड़ा-कबाड़ जमा कर कबाड़ी के यहां ले जाकर काम करना पड़ा। 'रविवार को बोरा लेकर तड़के ही शहर में निकल जाता और पुरानी हड्डियाँ, फटे कपड़े, लोहे की कीलें और रद्दी कागज जमा कर लाता, इस तरह हर सप्ताह तीस से पचास कोपेक तक की आमदनी हो जाती।' जो नानी के हवाले हो जाती।

अच्छी किताबें पाने और पढ़ने के लिए उन्हें बहुत संघर्ष करना पड़ा। कुछ लड़कों से 'रॉबिन्सन क्रूसो', की तारीफ सुनी पूरी पढ़ भी नहीं पाये थे कि मां ने किताब छीन ली। किताब

वापिस नहीं मिली, पिटाई भी हुई।

दोब्री जहाज पर बर्तन साफ करने का काम मिला। यहां बावचीं स्मूरी ने, 'जो उससे किताबें पढ़वाकर सुनता था, उसे किताबें पढ़ने की ऐसी चाट लगा दी, जो निरंतर बढ़ती ही चली गई। स्मूरी उनसे सदा यही कहता था कि पढ़ो, अगर कोई किताब समझ में न आये तो उसे सात बार पढ़ो। अगर सात बार भी पढ़ने पर समझ न आये तो उसे बारह बार पढ़ो- किताबें फिजूल की चीज नहीं है। अनपढ़ आदमी को पूरा बैल ही समझे। चाहो तो उस पर जुआ लाद दो, चाहे उसे काटकर खा जाओ मगर दुम हिलाने के सिवा वह कुछ नहीं करेगा।

गोर्की ने किराये पर लेकर किताबें पढ़ना शुरू किया जिससे उनके सिर पर कर्ज काफी बढ़ गया। गोर्की ने लिखा भी है- 'पुस्तकें पढ़ने की इस अचानक धुन के कारण मुझे क्या कुछ नहीं सहना पड़ा, अपमान के कड़वे घुट मैंने पिये, दिल पर लगी चोट से मैं कराह उठा।' चाहत भी जाहिर की- 'मैं ऐसी पुस्तकें चाहता, जिन्हें पढ़कर मेरे हृदय के तार झनझना उठें, मेरा मन खुशी से नाच उठे, जो लेखनी जादूगर बालजाक की पुस्तकों की भांति हो।'

गोर्की ने भी प्रेम किया परन्तु असफल रहे। 'अन्य किसी से पीछे न रहने की होड़ में मैं भी प्तीसिन की बेटी से प्रेम करने लगा। यह तो याद नहीं पड़ता कि मैं अपने प्रेम को किस तरह उसके सामने व्यक्त करता, लेकिन इस प्रेम-चक्र का अंत दुखद हुआ। एक दिन मैंने उससे कहा कि चलो, न्वेन्दिन कुंड पर चलो। कुण्ड के बंद और गन्दे पानी पर एक तख्ता तैर रहा था। तय किया कि उसी पर कुण्ड की सैर की जायेंगी। लड़की उसके लिए तैयार हो गई। मैं तख्ते को खींच कर किनारे पर ले आया और उस पर खड़ा हो गया। तख्ता काफी मजबूत था और मजे से मेरा बोझ संभाल सकता था। लेकिन लड़की ने, जो बेल-बूटे वाली लेस और फीतों से सजी गुड़िया जैसी लग रही थी, जब तख्ते के दूसरे सिरे पर पांव रखा और मैंने बड़ी शान से एक डण्डे के सहारे तख्ते को किनारे से हटाया, तो कमबख्त तख्ता धचका खा गया और वह कुण्ड में जा गिरी। मैं भी एक सच्चे प्रेमी की भांति उसके साथ ही कूदा और पलक झपकते में उसे पानी से बाहर निकाल लाया। लेकिन भय और पानी की हरी काई ने लिपटकर उसे बिल्कुल चू-चू का मुर्ब्बा बना दिया और उसके सारे सौंदर्य को बिगाड़ डाला था।

कीचड़ से लथपथ उसने अपना छोटा-सा घूँसा ताना और

पुस्तकायन

चिल्लाई, तुमने मुझे जान-बूझ कर धक्का दिया है। मैंने बहुतेरी माफी मांगी, लेकिन उस पर कोई असर नहीं हुआ और वह मेरी दुश्मन बन गयी। (गोर्की, प्रेमचंद और लूशून/पृ. ३०)

जब पेट भरने के लिए गोर्की गोदी के मजदूरों के लिये काम कर रहे थे, तभी विश्वविद्यालय के गरीब क्रांतिकारी छात्रों से उनकी मुलाकात हुई। इसमें से एक गूरी प्लेतन्योव था जिसने उन्हें साथ रहने के लिए आमंत्रित किया। इस तरह वह अजीब मनोरंजक और गंदे 'मरुसोव्का' में रहने लगा जो एक बड़ी खस्ताहाल इमारत थी, जिस पर भूखे छात्रों, वेश्याओं तथा जीवनलीला लगभग समाप्त कर चुके कुछ अजीब से लोगों ने जबरन कब्जा कर रखा था। यहीं पर गोर्की ने पहली बार गुप्त राजनीतिक कार्यों में भाग लिया। (वही, पृ. ३१)

गोर्की का घुमकवड़ी जीवन थमा नहीं। सागर तट पर काल्मिक मछुआरों की बस्ती में मछरे का काम किया। कृत्या नामक छोटे से रेलवे स्टेशन पर चौकीदारी की, 'यही आत्मशिक्षा मण्डल' में भाग लेने के फलस्वरूप पुलिस की नजरों में आ गये और १८८९ में राजनीतिक कार्रवाइयों में भाग लेने के कारण पहली बार गिरफ्तार किया गया। छूटने के बाद भी पुलिस की नजर रही। फिर खेत मजदूर का काम, रसोइये और माल ढोने वाले मजदूर का भी काम किया। तिफलिस के रेलवे वर्कशाप में काम करते हुए पुराने क्रांतिकारी अन्म काल्यूजी के साथ रहने लगे जिसने उन्हें अपने अनुभव लिखने के लिए प्रेरित किया। उन्हीं की प्रेरणा से पहली छपी कहानी पर मक्सिम गोर्की नाम छपा जिसका अर्थ (गोर्की का) रूसी भाषा में तिक्त या कटु होता है। कड़ी मेहनत के कारण तपेदिक का शिकार हुए १८९८ में कहानियों का संग्रह छपा जिससे उनकी गणना लेव तालस्ताय और चेखोव के बराबर होने लगी।

बीसवीं सदी के आरंभ में रूस में आने वाली क्रांतिकारी लहर ने गोर्की को क्रांति का अग्रदूत बनने की प्रेरणा दी। १९०१ में 'टक्कर' नामक नाटक में एक उदात्त मजदूर पात्र नील को सामने लाये। तब तक 'फ्रोमा गोर्दयेद' तथा 'वे तीन' उपन्यास भी निकल चुके थे।

फिर गोर्की पर राजद्रोह का मुकदमा लगा कर जेल में डाल दिया गया। पूरे रूस में उन्हें मुक्त करने की आवाज उठी। तालस्ताय ने भी उन्हें मुक्त करने की मांग की। तपेदिक के रोग के कारण सरकार को दक्षिण जाने की अनुमति देनी पड़ी। १९०५ में जब साधारण रूसी लोग जार पिता में आस्था रखते

हुए याचिका देने शिशिर प्रसाद की तरफ गये, गोलियां चला दी गईं। निहत्थे लोगों की रक्त की धारा बह चली गोर्की ने क्षुब्ध होकर जार के विरुद्ध एक आह्वान लिखा और गिरफ्तार हो गये। १९०५ में ही वोल्शेविक पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर ली। १९०८ में लेनिन गोर्की के साथ काफी कुछ दिन रहे और घुमकवड़ी जीवन की घटनायें सुनायीं। लेनिन ने उन्हें वह सब लिखने के लिए प्रेरित किया। 'मेरा बचपन', 'जीवन की राहों पर' तथा 'मेरा विश्वविद्यालय' जैसी रचनायें रची गईं।

१९१४ में विश्वयुद्ध छिड़ गया। १९१७ के फरवरी महीने में जारशाही कर अन्त करने के लिए क्रांति हुई। १९१७-२० में गोर्की का योजनानुसार विश्व-साहित्य माला का प्रकाशन हुआ। अस्तु स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता चला गया। १९२८ में उनकी साठवीं जयन्ती सारे सोवियत में मनायी गयी। १९३२ तक उनकी गणना विश्वविख्यात लेखकों में होने लगी। मास्को की एक सड़क को गोर्की का नाम दिया गया। १९३६ में रंगमंच के प्रसिद्ध निदेशक दान्योको को पत्र लिखा-चालाक बूढ़े की तरह मैं अपने कार्यों को बढ़ाता जा रहा हूं, ताकि मरने की फुर्सत न रहे। अभी बीस वर्ष तक और जीना चाहता हूं। जून १९३६ को उन्हें फूलू ने दबोच लिया। १८ दिन तक मृत्यु के विरुद्ध संघर्ष चला। और वह सदा के लिए विदा हो गये।

उन दिनों प्रेमचंद बीमार थे। सारी दुनिया में शोक सभायें हो रही थीं। प्रेमचंद बनारस में आयोजित शोक सभा में शामिल हुए। पत्नी शिवरानी देवी ने कहा 'गोर्की के मरने का बहुत दुख हुआ। गोर्की की जगह लेने वाला कोई नहीं।'

राणा प्रताप जैनेन्द्र कुमार की तरह प्रेमचंद को साहित्य-निर्माता से अधिक देश-निर्माता मानते हैं। उनकी साहित्य रचना का स्रोत प्रेम है- 'देश प्रेम और मानवप्रेम।' प्रेमचंद ने स्पष्ट कहा था- 'एक नयी सभ्यता का सूर्य सूर्य पश्चिम में उदय हो रहा है, जिसने जिस नाटकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत कर रही है वह अपने आप को मजदूर ही मानते थे। कहते थे- 'वे फावड़ा चलाते हैं और मैं कलम चलाता हूं। हम दोनों मजदूर हैं।'

(गोर्की, प्रेमचंद लूशून, पृ. १५९)

रामवृक्ष ने अपने एक लेख में कहा था कि प्रेमचंद के साहित्य को राष्ट्रीय जागरण के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। इस राष्ट्रीय जागरण का नेतृत्व शिक्षित मध्यवर्ग ने किया और

पुस्तकायन

अनेक तरीकों से राष्ट्रीय जागरण को प्रभावित किया। प्रेमचंद इस वर्ग में पैदा हुए, लेकिन उनका साहित्य भारतीय किसान का पक्षधर है। प्रेमचंद का साहित्य किसानों के बारे में शिक्षित मध्यवर्ग को संबोधित साहित्य है। वह शिक्षित समुदाय को किसानों के पक्ष में संगठित करना चाहते हैं। अतः प्रेमचंद के साहित्य को और उनकी विचारधारा को समझने के लिए राष्ट्रीय जागरण की प्रकृति और इसमें प्रेमचंद की भूमिका को समझना आवश्यक है। (आलोचना प्रेमचंद स्मृति अंक)

महाजनी सभ्यता पर जो कुछ उन्होंने कहा, वह आज तक सभी साहित्य प्रेमियों को याद है। इस महाजनी सभ्यता के सारे कर्मों का कारन पैसा होता है जिससे किसी देश पर राज्य किया जाता है तो इसलिए कि महाजनों-पूँजीपतियों को ज्यादा-से-ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से मानो आज की दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है और बहुत छोटा हिस्सा उन लोगों का है जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े सम्प्रदाय को अपने बस में किये हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ कोई हमदर्दी नहीं, जरा भी रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए।

प्रेमचंद का जन्म बनारस से चार मील दूर लमही गांव में एक मध्यवर्ग परिवार में १८८० में हुआ था। असली नाम धनपत राय, प्यार से पुकारे गये नवाबराय पितामह पटवारी थे पिता अजायबलाल डाकखाने में क्लर्क थे। मां का नाम आनंदी देवी था। वे जब पांच वर्ष के थे एक मौलवी साहब के घर ऊर्दू-फारसी सीखने के लिए भेजा गया। शीघ्र ही भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया जिसकी मदद से रतननाथ सरशार मिर्जा रुसवा, मौलाना शरर आदि की रचनाएं पढ़ा पायें।

सम्पादक जमाना की सूचनानुसार १९३२ के हंस के आत्मकथा अंक में प्रेमचंद का 'जीवन सार' लेख छपा जिसमें उन्होंने अपने बारे में दर्ज किया, मेरी जिन्दगी समतल मैदान की तरह है, जिसमें कहीं-कहीं गड्ढे तो हैं, लेकिन टीलों, पहाड़ों, गहरी घाटियों और गुफाओं का पता नहीं है जिन सज्जनों को पहाड़ों की सैर का शौक है, उन्हें यहाँ निराशा ही होगी। आगे लिखा- 'पिता डाकखाने में क्लर्क थे। माता बीमार थी। चालीस तक पहुंचते-पहुंचते उनका निधन हो गया। यूं तो वे दूरदर्शी, सावधान और दुनिया में आँखें खोलकर चलने वाले आदमी

थे, लेकिन आखिरी उम्र में एक ठोकर खा ही गये और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह वर्ष की उम्र में मेरी शादी कर दी, जिसके चन्द साल बाद ही उन्हें परलोक यात्रा करनी पड़ी। उस समय में नौवी क्लास में पढ़ता था। घर में मेरी बीबी, सौतेली मां और उनके दो लड़के थे, मगर आमदनी एक पैसे की न थी। घर में जो कुछ था, पिता की बीमारी और उसके बाद क्रिया-कर्म में खर्च हो गया। मुझे एम.ए. पास करके वकील बनने का अरमान था। सरकारी नौकरी उस जमाने में भी उतनी ही मुश्किल थी, जितनी कि अब। दौड़-धूप करके दस-बारह रुपये की जगह पा जाता, मगर यहां तो आगे बढ़ने की धुन थी। पांव में लोहे की नहीं, अष्टधातु की बेड़िया पड़ी हुई थीं।

राणा प्रताप ने लिखा कि यहां एक अजीब संयोग देखने को मिलता है। गोर्की के पिता पांच साल की उम्र में गुजर गये। लूशुन के पिता भी लगभग इसी उम्र में तपेदिक से मरे और प्रेमचंद के पिता पंद्रहवें साल में। बचपन की स्कूली शिक्षा तीनों के लिए बाधा खड़ी करती है। गोर्की तो इस मामले में पिछड़ते हैं तो पिछड़ते ही चले जाते हैं। लूशुन की मां हौंसले वाली महिला थी, उसने उधार-पैसा करके भी बेटे को स्कूल में दाखिला करवाया और आगे बढ़ने की प्रेरणा देती रही। प्रेमचंद मैट्रिक तक आकर ही लुढ़कने लगे। लेकिन देखने की बात यह है कि तीनों शख्स में पढ़ने की प्रति उत्कट लालसा बरकरार थी। (गोर्की, प्रेमचंद और लूशुन, पृ. ३४)

हिसाब प्रेमचंद के लिए हिमालय पहाड़ की चोटी थी, जिस पर वह कभी न चढ़ सके। इंटरमीडिएट का इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब यह विषय ऐच्छिक हो गया, तो दूसरे सब्जेक्ट लेकर इंटरमीडिएट पास कर लिया।

एक वकील के यहां लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पांच रुपये तनखाह ठहरी। दो रुपये में गुजारा कर तीन रुपये घर देने का इरादा किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी, उसी में रहे। एक टाट का टुकड़ा बिछा लिया, एक छोटा-सा लैम्प ले आये। एक वक्त खिचड़ी पका लेते और बर्तन धो-माज कर लायब्रेरी चले जाते। हिसाब के बहाने नॉवेल पढ़े। 'चन्द्रकान्ता संतति', बंकिम बाबू, उर्दू तरजू में जितने लायब्रेरी में मिले सब पढ़ डाले। १९०१ में लिखना आरंभ किया। पहली कहानी दुनिया का सबसे अनमोल रत्न १९०७ में 'जमाना' में छपी। १९०९ में

पुस्तकायन

‘सोजेवतन’ पांच कहानियों का संग्रह आया। कलक्टर ने जवाबदेही के लिए बुला लिया। कहा गया तुम्हारी कहानियों में सेडेशन (राजद्रोह) भरा हुआ है, अपनी तकदीर पर खुश होओ कि अंग्रेजी राज में हो। मुगलों का राज होता तो दोनों हाथ काट डाले जाते।

‘सोजेवतन’ की कुल कापियां सरकार के हवाले कर देने का हुक्म हुआ साथ ही यह कहा गया कि आइंदा साहब से इजाजत लिए बगैर कुछ न लिखें।

प्रेमचंद की दूसरी मुसीबत स्वास्थ्य-संबंधी थी। वह हमीरपुर में थे जब पेचिस की शिकायत हो गयी। एक रोज पेट में ऐसा दर्द हुआ कि तमाम दिन मछली की तरह तड़पते रहे। फिर दरोगा जी की दावत स्वीकार कर ली। दो-ढाई घंटे बाद फिर पेट दर्द। परहेजी खाने और दवा से भी आराम न मिला। पेचिस ताजिन्दगी साथ रही, कभी ठीक भी होती तो पुनः उभर आती। ऐसी अवस्था में भी लगातार काम करते रहे। कभी फुरसत की सांस न ली। राणा प्रताप कुमार विमल की निम्न पंक्तियाँ सामने लाते हैं- ‘प्रेमचंद एक कर्मी साहित्यकार थे। उनकी मूल मान्यता ही थी कि का अइंरय कर्म है। कर्मी साहित्यकार के लिए केवल शब्दों तक सीमित रहना एक वंचना होती है।’

स्वतंत्रता संग्राम जोरों पर था। गांधी का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। प्रेमचंद भी अप्रभावित न रहे। उन्होंने गांधी जी को सुना। ‘यह गांधीजी के दर्शन का असर था या उनके जोरदार भाषण का अथवा लंबी बीमारी से उचरे मन की तीव्र प्रतिक्रिया थी, कहना मुश्किल है-जैसे गोर्की मार्क्सवादियों और लेनिन के प्रभाव में आये। ठीक वैसे ही प्रेमचंद असहयोग आंदोलन के बढ़ते ज्वार को देखकर पहले गांधी के निकट आये। जीवन के अंतिम समय में पहुंचकर ही उन्होंने बोल्शेविक उसूलों के कायल होने की बात कही जिसका प्रबल प्रमाण ‘महाजनी सभ्यता’ शीर्षक वाला उनका प्रसिद्ध आलेख है।’

(गोर्की, प्रेमचंद लूगून, पृ. ४७)

१९२३ में प्रेमचंद ने सरस्वती प्रेस की स्थापना की। माली परेशानियां तब भी विकट थीं। निगम जी को लिखे पत्र में कहा- ‘२० जुलाई से प्रेस का काम शुरू होगा मगर खाली हाथ। मेरे पास अब कुछ नहीं रहा-दोस्तों को तकलीफ देने के सिवा कहां जाऊँ? ४०० रुपये एक साहब से लिए। अगर आप ३०० रुपये दे सके तो महीने के लिए कुछ सिर हल्का हो जाये। आपको मेरी माली हालत का इल्म है, इतना निराश न कीजिये।

प्रेस के काम ने उन्हें उलझा दिया-२३ अगस्त १९२४ को निगम साहब को फिर लिखा- ‘प्रेस ने मुझे इस कदर परेशान कर रखा है कि मैं तंग आ गया हूँ। वह बुरा वक्त था। जब मेरे सिर में यह पागलपन समाया, दरअसल मैंने यह झंझट मोल लेकर अपनी जान आफत में फंसाई।’

उनके साहित्य सृजन की निरंतरता बनी रही। पहले ‘प्रेमाश्रम’ फिर ‘संग्राम’ और ‘कर्बला’ नाटक छपे। १९२५ में ‘रंगभूमि’ उपन्यास भी छप गया।

उसने जब पूछा गया कि वह किस पार्टी में है। जवाब दिया- ‘मैं किसी पार्टी में भी नहीं हूँ। मैं तो उस आने वाली पार्टी का मेंबर हूँ जो छोटे या आम लोगों की सियासी तालीम को अपनी कार्यविधि बनायेगी।’

साम्राज्यवाद से मुक्ति उनकी हार्दिक इच्छा थी। सन १९३० के एक पत्र में लिखा- ‘मेरी आकांक्षाएं कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों, हां यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की पुस्तकें लिखूँ। पर उनका उद्देश्य भी स्वराज विजय ही हो।’

(वही पृ. ५१)

१९३४ में बम्बई फिल्मी दुनिया में प्रवेश। फिल्मी दुनिया के अनुभव कड़वे रहे। यहां तो जान पड़ता है कि जीवन नष्ट हो रहा है के परिणाम तक पहुंचे।

कीर्ति स्तंभ उपन्यास ‘गोदान’ १९३२ से लिखना आरंभ हुआ जून १९३६ में प्रकाशित हुआ। ‘हंस’ को बेटे की तरह प्यार किया। सितम्बर १९३६ का अंक भी निकाला तो शायद अंतिम अंक रहा। ८ अक्टूबर १९३६ को अंतिम सांस ली। ‘गोर्की, प्रेमचंद और लुशून तीनों का ही जीवन तपस्या का जीवन था जिसने उनके जीवन-दर्शन, विश्व दृष्टिकोण और कला व साहित्य सृजन पर अपनी छाप अंकित की।’

(वही, पृ. ५३)

गोर्की, प्रेमचंद की तरह लुशून भी मानवता के प्रति समर्पित रचनाकार थे और जन साधारण के जीवन को बनाने के लिए रचनारत रहे। राणाप्रताप चीन के नव निर्माता माओत्से-तुंग की आज से लगभग साठ-बासठ साल पहले के लिखे शब्दों की याद दिलाते हैं-चीनी संस्कृति के क्रांति के मुख्य कमांडर, जो केवल शब्दों के महारथी नहीं थे, बल्कि महान चिंतक और क्रांतिकारी थे। लुशून दृढ़ शक्ति संभव गहरी चापलूसी से सर्वथा मुक्त और लीक से अलग थे-ये ही गुण उन्हें उपनिवेशवादी

पुस्तकायन

और कोई अविनेशवादी जानता से जोड़ते थे। लुशून भी बहुसंख्यक जनता के प्रतिनिधि थे। उन्होंने दुश्मन के दुर्ग के खिलाफ अह्वान किया और एक तूफान पैदा कर दिया। सांस्कृतिक मोर्चे पर वह सबसे बहादुर और सबसे पक्के आदमी थे। वे दृढ़ देशभक्त और उत्साही राष्ट्रीय नायक थे, जिनका हमारे इतिहास में कोई जोड़ नहीं है।

लुशून भी जनता के लेखक थे परन्तु प्रतिक्रियावादी लेखकों ने सदा उनकी आलोचना की और उन्हें उच्चासन देने से इनकार किया। जैसे भारत में कुछ लोगों ने प्रेमचंद की प्रासंगिकता का सवाल उठाने से ही इनकार कर दिया था। और प्रासंगिकता को समाज से जोड़कर देना ही गलत माना। लुशून इससे कभी विचलित नहीं हुए, बल्कि दृढ़ता के साथ आलोचनाओं का जवाब देते रहे और प्रत्याक्रमण करते रहे। इसलिए वह कहते थे- 'नए लेखकों की एक फौज खड़ी कर देनी चाहिए।'

(वही, पृ. ५६)

बताते हैं कि लुशून का असली नाम चो-सू-रेन था। उनका जन्म २५ सितम्बर, १८८१ को ये क्वांग प्रांत के शाओशिंग गांव में हुआ था। वे प्रेमचंद के समकालीन थे। पढ़े-लिखे नौकरी पेशा परिवार में जब उनका जन्म हुआ तो उनके दादा पेकिंग में अफसर थे। जब लुशून तेरह बरस के हुए उनके दादा पर अभियोग चला और उन्हें जेल में डाला दिया गया। इसके बाद परिवार की माली हालत बिगड़ती चली गयी। पिता एक बेकार विद्वान थे और उनकी आय का विशेष साधन न था। इसके अलावा वह लंबे समय तक बेकार रहे और फिर चारपाई से कभी उठ न सके। घर में जो जमा-पूँजी थी, वह इसी लम्बी बीमारी में खर्च हो गई और परिवार को गरीबी ने घेर लिया। दवा के लिए पैसा न होने पर लुशून को कोई न कोई चीज शाप पर गिरवी रखने जाना पड़ता था। अपने पहले कहानी संग्रह, 'काल टू आर्म्स' की भूमिका में इन दिनों के अनुभव को लुशून ने यों बयान किया है-

'चार साल से अधिक समय तक लगभग हर रोज मैं शाप और दवा की दुकान पर जाता रहा। याद नहीं कि उस समय मेरी आयु क्या थी, पर दवा की दुकान का काउन्टर मेरे ही जितना ऊँचा था और थान शाप का काउन्टर मुझसे दुगुना। मैं जेवर और कपड़े अपने कदसे दुगने काउन्टर के उस पार पकड़ाता और उधर से अवज्ञापूर्ण ढंग से दिया गया धन लेकर मुदत से बीमार चले आ रहे पिता के लिए दवा खरीदने जाता....पिता

की हालत बद से बदतर होती चली गयी और एक दिन अचानक वे चल बसे।'

लुशून की मां लू जई देहात में पैदा होने के बावजूद पढ़ी-लिखी और साहसी महिला थी। उसने लुशून का बड़ा खयाल रखा और उसके पढ़ने लिखने की व्यवस्था भी की।

(वही, पृ. ५६)

सुरेन्द्र मनन ने कहा- 'लेखक और राजनीति, साहित्य और समाज, विचारधारा और साहित्य इत्यादि अनेकों सवाल हमारे यहां लम्बे अर्से से इसका विषय बनते रहे हैं। लेखकीय स्वतंत्रता और प्रगतिशीलता की दुहाई देते हुए साहित्य में नितान्त व्यक्ति केन्द्रित आकांक्षाओं, कुंठाओं का वहन-पोषण भी हुआ और लेखकों को राजनीति और विचारधारा से परहेज करने की बराबर सलाह देते हुए उसे शाश्वत साहित्य का सृजन करने की घुट्टी भी पिलाई जाती रही-वर्ग समाज में रहते हुए कोई व्यक्ति वर्गहीन नहीं हो सकता और राजनीति से अलग रहने की घोषणा करना भी दरअसल राजनीति है। लुशून ने स्पष्ट घोषणा की कि वर्ग समाज में रहने वाला कोई भी लेखक वर्गहीन नहीं हो सकता। युद्ध के समय कोई भी मैदान छोड़कर अलग-अलग नहीं रह सकता और वर्तमान में रहने वाला भविष्य के लिए नहीं लिख सकता। अगर कोई ऐसा सोचता है तो यह मात्र परिकल्पना है। वास्तविक जीवन में ऐसे व्यक्ति नहीं होते..। (साहित्य और क्रांति-लूशून पृ. ४)

लुशून की 'इच्छाशा ओशिंग से बाहर जाकर पढ़ने की हो रही थी। पर गरीबी के कारण कोई रास्ता नहीं समझ रहा था। मां ने ज्यों ज्यों करके राह खर्च के लिए आठ डालर जुटाये। अठारह वर्ष की आयु में लूशून नानकिंग गये और सरकारी सहायता से चलनेवाले कॉलेज में भर्ती हो गये। यहां उन्होंने पश्चिमी विज्ञान का अध्ययन किया और विदेशी विद्वानों के चीनी अनुवाद पढ़े। टी.एच.हक्सले की पुस्तक 'विकास और नैतिकता' ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया।

१८९५ से १९०२ की बीच घटी घटनाओं सुधारवादी आंदोलन साम्राज्यवाद विरोधी अभ्युत्थान और १९०० में साम्राज्यवादियों की शक्ति और सेनावाहिनी द्वारा पेकिंग पर दखल आदि। इन घटनाओं और अपने अध्ययन द्वारा लूशून ने दो सबक लिये 'पहला' शब्दों ने मुझे गुमराह किया, मतलब कि पुरानी सामंती शैली में लिखी रचनाएँ युवकों को बरबाद

पुस्तकायन

करती है। दूसरे 'आदमी को हथियार उठा लेने चाहिए' हालांकि ये ऐतिहासिक भौतिकवाद और मार्क्सवादी विचारधारा के तहत उद्भूत विचारणा नहीं थी—तथापि यह उनके मन का उफान था।

१९०१ में उन्होंने स्नातक की डिग्री हासिल की। १९०२ में छात्रवृत्ति मिलने पर डाक्टरी पढ़ने जापान चले गये। वान, शैली, हाईने, पुस्कन को पढ़ा। ज्ञान के नये क्षितिज खुले। चीन का मानचित्र घूम गया—'हाय चीन आज सर्वनाश के तट पर है'। १९०५ में रूस जापान युद्ध शुरू हुआ। लगा कि चीनवासियों को मानसिक चिकित्सा की जरूरत है। १९०६ में शंघाई से टोकियो लौट कर आये। एक साहित्यिक पत्रिका निकालने की कोशिश कर, असफल रहे। छोटे और कमजोर राष्ट्र के विद्रोही कवियों पर लेख लिखे। साम्राज्यवाद और सामंतवाद पर खुल्लमखुला लिखा।

(गोर्की, प्रेमचंद, लुशून, पृ. १५८)

१९०९ में स्वदेश लौटे। १९११ की सशस्त्र क्रांति का स्वागत किया। नेतृत्व सनयात सेन कर रहे थे। अस्थायी सरकार में लुशून शिक्षा मंत्रालय के सदस्य बने। सत्ता दलाल, पूंजीपतियों, सामंतवादियों ने क्रांति हथिया ली। चीनी जनता का शोषण बराबर बना रहा। अक्टूबर १९१७ की रूसी क्रांति से सामंतवाद विरोधी, साम्राज्यवाद विरोधी जन संघर्ष को बल मिला। 'नौजवान' पत्रिका के संपादक मंडल में आये। १९१८ में 'एक पागल आदमी की डायरी' इसी पत्रिका में छपी।

'४ मई आंदोलन' देश व्यापी था। नौजवान 'पत्रिका ने भी नव जनवादी क्रांति का अभियान छेड़ा। मार्क्सवादी विचारधारा द्वारा संयुक्त मोर्चे की सोच ने मार्ग दर्शन किया। १९२० में आंदोलन में उतार आया तो दक्षिण पक्ष का ध्रुवीकरण हुआ। १९२० में ही पेकिंग वि. वि. में अध्यापन का काम मिला। १९२३ में पहला कहानी संग्रह आया। १८ मार्च १९२६ तीस हजार लोगों ने साम्राज्यवादियों के खिलाफ प्रदर्शन किया। 'गोली चली २०० लोग मारे गये। विरोध करने पर लुशून की जिन्दगी खतरे में थी। १९२७ में हजारों क्रांतिकारी मारे गये। प्रतिक्रिया स्वरूप लुशून ने डीन का पद छोड़ दिया। १९२८ दे

रेट पत्रिका का प्रकाशन किया। १९३१ में 'अंधकारपूर्ण चीन की कला की वर्तमान स्थिति लेख लिखा।' १७ अप्रैल १९३४ को जापानी साम्राज्यवादियों ने यह घोषित कर दिया कि चीन एक पराजित राष्ट्र है।

१९३६ में जापान आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना जो माओ त्से तुंग के हक में थे। लुशून माओत्से युद्ध के हक में रहे। लंबे कठिन संघर्ष में उनका स्वास्थ्य गिर गया। दोस्तों ने अस्पताल दाखिल होने को कहा। गोर्की ने इलाज के लिए रूस बुलाया परन्तु उन्हें 'काम करते हुए कुछ बरस जीना, बिना काम करते हुए अधिक जीने से बेहतर लगा। १९ अक्टूबर १९३६ को देहांत हो गया। उनका जीवन एक योद्धा का जीवन था, क्रांतिकारी का जीवन था'।

(गोर्की, प्रेमचंद और लुशून, पृ. ६७)

गोर्की प्रेमचंद और लुशून तीनों अपने अपने देश में रूढ़िवादिता जहालत, के विरुद्ध जनता के सपनों को सार्थक करने के संघर्ष में मूल्यवान योगदान दिया। सोवियत संघ रूस १९९० के आस पास टूट कर बिखर गया। गोर्वाचोव के समय बिखराव स्पष्ट हो गया। प्रेमचंद का भारत स्वतंत्र तो हुआ परन्तु उपनिवेशवादी शक्तियां आर्थिक साम्राज्यवाद के जरिये गुलामी के हालात पैदा कर रही हैं। लुशून का चीन मंदिरों को भी शेयर बाजार में ले आया।

परन्तु इस सब में गोर्की, प्रेमचंद, लुशून के जीवन संघर्ष, साहित्य संस्कृति में देन को भुलाया नहीं जा सकता। राणाप्रताप ठीक कह रहे हैं कि आज इस मानव द्रोही समय में जब सामाजिक सरोकार की बात करना भी खतरनाक साबित किया जा रहा है, ऐसे समय में गोर्की, प्रेमचंद और लुशून जैसे लेखकों का महत्व अत्यधिक रूप से बढ़ जाता है।

समीक्षित पुस्तक : नयी पीढ़ी के लिए गोर्की, प्रेमचंद, लुशून

लेखक : राणा प्रताप

प्रकाशक : गार्गी प्रकाशन

मूल्य : ८० रुपये

सम्पर्क : ४४ ए राजा गार्डन, जालंधर-१४४०२, मो. ०९४६३६३२८५५

प्रेमचंद पर एक नजर

डॉ. अरुण कुमार

प्रेमचंद पर चर्चा के इतने पंख हैं कि एक पंख के करीब आते ही आसमान का एक बड़ा टुकड़ा सामने आ जाता है। फिर पूरा इतिहास चाहे कहानी की खिड़की से झाँके या उपन्यास और उनके लेखों की खिड़की से। मेरे मित्र रामानुज शर्मा जो नीलाम्बर पीताम्बर विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष हैं, उनके साथ बरसों-बरस के रिश्ते में बातचीत का एक आधार प्रेमचंद का साहित्य जरूर रहा है। हम साए की तरह प्रेमचंद आगे या पीछे रहे और मुझे लगता है कि हर भारतीय के लिए उनका साहित्य इतिहास के अनछुए दरवाजे खोलता है। इसलिए जितनी बार प्रेमचंद को पढ़ेंगे, नयी रोशनी मिलेगी। केवल प्रेमचंद के कथा-साहित्य और उनके लेखों में जितने नाम आए हैं जितने चरित्र आए हैं और जितनी जगहें आयी हैं, उन्हें जमा करने पर आप समझेंगे कि इतने नाम महाभारत और रामायण में ही आए होंगे, अन्यत्र नहीं। हिंदी के इस कथाकार की दिनचर्या में केवल बनारस का उनका अपना घर नहीं था, पूरा भारतवर्ष था जिसे उन्होंने अपनी आवारगी में देखा, समझा ओर परखा था। गजलों के गायक गुलाम अली की एक गजल का टुकड़ा है। पाकिस्तान के प्रसिद्ध कवि मोहसिन नक्वी की एक गजल है जो गुलाम अली की गायकी में बहुत मशहूर हुई, ये दिल ये पागल दिल मेरा, क्यों बुझ गया आवारगी। इस दृष्ट में एक सहर था, वो क्या हुआ आवारगी, यहाँ 'सहर' वो सुबह है जो दिन-रात की आवारगी में भी हमें आस दिखाती है। मैं आपसे पूछता हूँ कि भारत का कोना-कोना छाने बगैर खुद को देश भक्त कहना कितना बेमानी है। शहनाई वादक बिस्मिल्लाह खाँ के सामने अमेरिकी राष्ट्रपति का एक प्रस्ताव आया कि बिस्मिल्लाह के लिए अमेरिका में ही एक बनारस शहर आबाद कर दिया जाएगा। बिस्मिल्लाह खाँ बोले कि अमेरिका में बनारस आ सकता है लेकिन गंगा कहाँ से आएगी। यह जो आवारगी है, कहूँ प्रेमचंद में रची-बसी है, दक्षिण से लेकर उत्तर तक की गंध मिलेगी वहाँ।

श्रीनगर के एक विद्वान है डॉ. जाफर रजा की किताब छपी थी बहुत पहले लोक भारती से उनकी किताब का शीर्षक ही है, 'प्रेमचंद : उर्दू-हिंदी कथाकार' लेखक की सूचना है कि १९००-१९१५ के बीच में प्रेमचंद की बाईस कहानियाँ पहले उर्दू में छपी फिर हिंदी में आयी, इसके अलावा ग्यारह कहानियाँ खालिस उर्दू की हैं जिसका अनुवाद नहीं हुआ था अनुवाद हुआ भी तो बाद में। इन सोलह वर्षों में उनका पहला समझ जाने वाला 'सेवासदन' (१९१५) भी आया और १९०२ में उर्दू में उनके

दो उपन्यास आए, एक का नाम मुझे याद है असरार-ए-मुआविद' हिंदी में इसका अनुवाद देवोत्थान नाम से हुआ। इसी बीच में १९०४ से दयानारायण निगम की पत्रिका जमाना के लिए नियमित लिखने भी लगे। ये प्रेमचंद के लेखन का शुरुआती दौर था जिसमें उनकी बावन कहानियाँ और पाँच उपन्यास मिलते हैं मात्र पन्द्रह वर्षों की उपलब्धि है यह। आज के कथाकारों में होड़ लगी है कौन कितना आगे है और कौन एक कहानी लिखकर मशहूर हो गया और कौन दो-चार कहानियों के लिखने के बाद खुद को चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' समझ लिया। कथाकार अगर सरकारी ओहदे पर है तो उसके दोनों हाथघी में डूबे हैं। अपने शहर के खास-ओ-आम से कथाकार अपनी तारीफ में कसीदा गढ़वा लेगा और फेस बुक के बाजार में उछाल देगा। मैं ऐसा एक कारण से कह रहा हूँ। उर्दू के प्रसिद्ध पत्रकार और संपादन दया नारायण निगम प्रेमचंद के गहरे मित्रों में थे बल्कि कहेँ उनके अभिभावक थे। प्रेमचंद के सुपुत्र अमृत राय द्वारा संकलित और सम्पादित 'प्रेमचंद' चिट्ठी पत्री में दया नारायण निगम को लिख प्रेमचंद का एकपत्र है। चर्चा से पहले बता दूँ कि निगम जी का अंग्रेज अफसरों में बड़ा रसूख था। वे चाहते थे कि प्रेमचंद भी अंग्रेज अफसरों से नाता-रिश्ता रखें। प्रेमचंद को एक शादी में जाना था। वे नहीं गए। निगम जी को पत्र लिखा कि शादी में कई अंग्रेज हुक्मरान भी आने वाले थे, इसलिए उन्होंने शादी में जाना मुनासिब नहीं समझा। यह घटना १९२२-२३ की है। इस घटना के बाद भी दया नारायण जी से उनके संबंध बहुत अच्छे रहे। प्रेमचंद की इस सामाजिक प्रतिबद्धता से जाहिर है कि लिखना कोई कारोबार नहीं है या सरकारी प्रमोशन पानेका हथियार नहीं है। आप सबने प्रेमचंद की कहानी लेखक पढ़ी होगी जिसमें लेखक महोदय हाई कोर्ट के चीफ जस्टिस के सम्मान में कविता पढ़ने से इनकार कर देते हैं। प्रेमचंद की कई कहानियों को उनके जीवन की घटनाओं से समझा जा सकता है।

लिखने की यही प्रतिबद्धता विचार के स्तर पर उसे महान बनाती है और लेखक के विचारों में भी निरंतरता या कंसिस्टेंसी लाती है। प्रेमचंद के अंतिम उपन्यास 'गोदान' में ही कर्मकांडका विरोध नहीं हुआ है। असरार मआबिद (देवोत्थान) में भी

कर्मकाण्डी और पुराहित-पंडों पर हमला हुआ है। यह उपन्यास १९०२ की है। कहते हैं कि 'असरारे मजाबिद' में उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यासकार रतननाथ सरशार का भाषाई जादू था। फर्क था कि प्रेमचंद १९०२ से कर्मकांड और पुरोहित को लोकतंत्र का काँटा मान रहे थे।

प्रेमचंद शतरंज नहीं खेलते थे। गिल्ली डंडा भी नहीं खेलते थे। उनके बचपन का एक हिस्सा पान की दुकान पर फसानाए-आजाद और बैताल पचीसी की कहानियाँ पढ़ते हुए गुजरा। अंग्रेजी, उर्दू, फारसी और हिन्दी पर उन्हें गहरी पकड़ थी। हिंदी को वे हिन्दुस्तानी कहते थे। उनका एक लेख भी है हिंदी उर्दू और हिन्दोस्तानी (यह लेख अप्रैल १९३४ में छपा था। इस पर चर्चा होगी, फिलहाल शतरंज के खिलाड़ी' ईदगाह और 'गिल्ली डंडा' कहानियाँ लेखक की रचनात्मक कल्पना की अद्भुत मिसालें हैं। शतरंज के खिलाड़ी' कहानी १९४२ की है। हम और आप इसे ऐतिहासिक भी कह सकते हैं, लखनऊ के बादशाह वाजिद अली शाह के दौर को चित्रित इस कहानी के शुभ्र में एक वाक्य कवियों और कलाकारों के लिए भी है। वाजिद अली शाह की तीमारदारी में औरों की तरह वे भी पीछे नहीं थे। उसी दौर १९२४ के आसपास स्वदेशी पर भी प्रेमचंद का लेख छपा। उनकी कहानी के अलग अलग लेकिन एक ही धरातल का पता चलता है। एक ही समय में साहित्य की अलग-अलग विधाओं में संवेदना खिलती है उसकी भावधारा एक-सी होती है। शतरंज के खिलाड़ी कहानी दोनों बादशाहों की गर्दन उल्टरजाती है और भारत में अंग्रेजी राज अपना पैर जमा चुका होता है। बादशाहों से मुक्ति मिले, तब तो स्वदेशी राज स्थापित हो। १९२४ के प्रेमचंद १९३६ के गोदान तक एक विचार, एक भाव लिए हैं।

स्वदेशी आन्दोलन का मतलब है स्वदेशी एकता चाहे भाषा के स्तर पर हो या सामाजिक और राजनैतिक सोच के स्तर पर। प्रेमचंद १९३५ में दक्षिण भारत की यात्रा पर थे। दक्षिण भार पर उनके दो लेख छपे हैं, एक, दक्षिण में हिंदी प्रचार १९३२ में छाप है और दूसरा लेख १९३४ का है तृतीय दक्षिण भारत हिंदी प्रचारक सम्मेलन। १९३५ में वे दक्षिण भारत की यात्रा पर थे। वे मद्रास में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के बुलावे पर गए थे। उन दिनों महात्मा गांधी के सुपुत्र

देवदास गाँधी सभा के अध्यक्ष थे। प्रेमचंद कायह विस्तृत यात्रा-वित्तांत १९३५ में छपा है जिसके मैं हूँ या 'मैं यहाँ हूँ' बास भीनहीं मिलेगी। वहाँ के हिंदी सेवियों नाथू राम जी और आर.संकरन रामनाथ जी गोयनका के नाम न रहे वो शायद इस पूरे वृत्तांत को साहित्य की किस विधा में रखा जाए यह बता पाना मुश्किल होगा। दक्षिण भारत के समाज को समझे बगैर हिंदीभाषा में निहित शक्ति को भी नहीं समझ जा सकता है। उस दौर में प्रेमचंद के भाषा संबंधी लेखों का एकभाव है हिंदी भाषा ही दक्षिण और उत्तर को एकबद्ध करने का पुल है यह काम अंग्रेजी के माध्यम से नहीं हो सकता। इसलिए महात्मा गाँधी ने अपने सुपुत्र देवदास गाँधी को कुद अन्य हिंदी प्रेमियों के साथ १९१८ में मद्रास भेजा। योजना बनी वहाँ के तमिल भाषियों को हिंदी पढ़ाने की। यह चर्चा बहुत लम्बी हो जाएगी। फिलहाल प्रेमचंद पर ही चर्चा करें। प्रेमचंद के एक लेख का शीर्षक ही है 'हिंदी उर्दू और हिन्दुस्तानी।' इस नाम से प्रेमचंद के समय के एक प्रसिद्ध आलोचक पद्म सिंह शर्मा की किताब छपी। उसी दौर में महात्मा गाँधी हिन्दुस्तानी भाषा की सिफारिश लेकर भी आए थे। जो लेख १९३४ का है हिंदी उर्दू और हिन्दुस्तानी उसकी खास बात है क्लासिकी भाषा के मिजाज से हिन्दुस्तानी को मुक्त रखना। दरअसल यह लेख पद्म सिंह शर्मा की किताब की समीक्षा है। शर्मा जी हिंदी संस्कृत, अरबी और संस्कृत शब्दों की लभरमार से हिंदी के दो रूप हो गए। फिर आगे चलकर दो जातियों से भाषाएं जुड़ गयीं। स्वदेशी आन्दोलन के लिए बड़ा नुकसान था। हिन्दुस्तानी भाषा से उस दौर के उर्दू और हिंदी के अनेक विद्वानों को परहेज हुआ। इसका कारण था

संस्कृत और अरबी पृष्ठभूमि वसे आए विद्वान भाषा के जनतंत्र को नहीं समझ पा रहे थे। भाषा लोक से चलती है न कि राज्य दरबार से। हिन्दुस्तानी में टकसाली शब्दों की आत्मा है। इसलिए वहाँ फारसी के भी शब्द हैं, संस्कृत, अरबी के अलावा पुर्तगाली भाषा के शब्द भी हैं। प्रेमचंद के कथा साहित्य में फारसी शब्द खूब आए हैं। मैं तो इसी विषय पर विस्तार से कुछ कहने का मन बनाकर आया था। रामानुज जी ने पूरे प्रेमचंद साहित्य पर बोलने का अनुरोध किया। भारतीय समाज में फारसी भाषा और साहित्य का लम्बा इतिहास रहा है। एक विद्वान हे मुहम्मद अब्दुल गनी, उनकी किताब का शीर्षक ही है झ-श्लुफ़ झीगह गह पहेलेनवे के दशक में यह किताब छपी है। हिन्दुस्तानी फारसी हिन्दुस्तानी रंग की है। प्रेमचंद के यहाँ फारसी शब्दावली टकसाली रूप में आयी है जो रूप महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में मिलता है। कवि और कथाकार शब्द की रचना भी करते हैं लेकिन उनका आधार लोक का समाज होता है। रामचरित मानस में 'नमाज' से नैवाज शब्द आया है। शब्दों का यह खेल प्रेमचंद के कथा-साहित्य में खूब मिलती है। पंच परमेश्वर कहानी के शुरु में एक शब्द आया है, 'रोटी कटी दोस्ती' एक साथ संज्ञा क्रिया विशेषण। भाषाविद व्याख्या करते रहे कौन शब्द फारसी है, कौन हिंदी। असल भाव है जुम्न और अलगू चौधरी की दोस्ती की मिठास का। कई बार शब्द अपने प्रचलन में इतने घिस जाते हैं कि हम और आप केवल अनुमान से उसका स्रोत पता कर सकते हैं। शब्दों की इस जादूगारी को कुशल कथाकार ही पहचान पाएगा।

पंकज मित्र का कहानी पाठ

२३ जून, २०१८ को हावड़ा कोलकाता के विद्यार्थी मंच एवं मुक्तांचल त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका के संयुक्त तत्वावधान में प्रतिष्ठित कहानीकार पंकज मित्र का कहानी पाठ हुआ। पंकज मित्र ने अपनी बेहतरीन आवाज़ में अपनी नवीनतम कहानी 'अच्छा आदमी' का पाठ किया। कहानी पाठ पर आलोचक मृत्युञ्जय पाण्डेय ने अपने विस्तृत एवं गंभीर विचार रखे। उन्होंने पंकज मित्र की कई महत्वपूर्ण कहानियों का उल्लेख भी किया। इस कहानी में पंकज मित्र ने बाजारवादी, उपभोक्तावादी संस्कृति की कलाई खोलकर रख दी है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद की यह संस्कृति प्रोफेसर व्योमेश को अपने ही परिवार के विरुद्ध खड़ा कर देती है। वे अपने ही बच्चों और पत्नी की नजर में अनुपयोगी हो जाते हैं। परिवार उन्हें कोई भी बात बताना जरूरी नहीं समझता। दुनिया का सही गलत का ज्ञान देने वाले प्रोफेसर अपने ही घर में मूक दर्शक होकर रह जाते हैं। धीरे धीरे वे परिवार से कटने लगते हैं या यूँ कह लें एक साजिश के तहत उन्हें परिवार से अलग कर दिया जाता है। इतना ही नहीं अंत में उन्हें पागल भी करार दे दिया जाता है। मानो पंकज मित्र यह कहना चाहते हों कि जो इस बाजारवादी संस्कृति का हिस्सा नहीं बनेगा, उसे यह संस्कृति, इस संस्कृति के पालक पोषक बिल्डर जैसे लोग पागल करार दे देंगे। उनका हथ प्रोफेसर व्योमेश का हथ होगा।'

आलोचक चिंतक डॉ आशुतोष ने कहानीकार पंकज मित्र के कुछ अनछुए अनजाने पहलुओं पर चर्चा की। कवि राज्यवर्द्धन ने 'अच्छा आदमी' के अलावा पंकज मित्र की कुछ अन्य महत्वपूर्ण कहानियों पर भी अपनी बात रखी। कवि शैलेन्द्र, अल्पना नायक और कहानीकार सरोज खान बातिश ने भी इस बहस में हिस्सा लिया। कुल मिलाकर कार्यक्रम एकदम जीवंत रहा। बहस थमने का नाम नहीं ले रहा था। स्वागत वक्तव्य मुक्तांचल पत्रिका की संपादक डॉ मीरा सिन्हा ने दिया और धन्यवाद ज्ञापन परमजीत कुमार ने किया।

प्रस्तुति : मृत्युञ्जय पांडेय

प्रेमचंद परिचर्चा

'विद्यार्थी मंच' एवं 'मुक्तांचल' द्वारा कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद के १३८वीं जन्म जयंती के अवसर पर दिनांक २९.०७.२०१८ को परिचर्चा का आयोजन किया गया। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि डिगबोई महिला महाविद्यालय, असम के हिन्दी विभागाध्यक्ष हरeram पाठक थे। उन्होंने प्रेमचंद की कहानियों के बहुअर्थता के संबंध में अपने विचार रखे जो कहानी की परिस्थिति, उद्देश्य आदि का बोध कराता है। महेश जायसवाल ने अपने वक्तव्य में कहा, जिन-जिन चीजों का संबंध हमारे जीवन से है वही साहित्य का कैनवास है। रवीन्द्र आरोही कहते हैं कि किसी के विचारों का वर्गीकरण भी हिंसा है, विचारधाराओं से जोड़कर साहित्य ग्रहण न करें, वरना साहित्य गाँव घर तक न पहुंचकर पेशे तक सीमित रह जायेगा। खड़गपुर कॉलेज के पंकज साहा ने अपने वक्तव्य में कहा, आज के भागदौड़ भरे जीवन में प्रेमचंद का साहित्य हमें गाँव की सुरम्य, शांत और मोहक वातावरण की ओर आकर्षित करता है। इसी कॉलेज के रणजीत कुमार सिन्हा गाँव की मिट्टी की पवित्रता की बात करते हैं जो प्रेमचंद के साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध है। रिसड़ा स्वतंत्र विद्यालय के संजीव कुमार दुबे ने अपना आलेख पाठ किया। इसके अतिरिक्त और भी कई वक्ताओं ने अपने शोधपरक वक्तव्य रखे जिनमें कालिका प्रसाद उपाध्याय 'फकीरचंद', आशुतोष सिंह, अरविन्द कुमार ठाकुर, जीवन सिंह, लक्ष्मण केडिया आदि शामिल थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में शिवनाथ पाण्डेय ने प्रेमचंद के संबंध विचार रखते हुए कहा कि प्रेमचंद ऐसे पहले कथाकार हैं जिनकी दृष्टि और सृष्टि गाँवों से है। अजयेंद्रनाथ त्रिवेदी राजभाषा अधिकारी, पूजा प्रसाद, विद्या रजक, आनंद प्रसार नोनिया, ऋतिका सिंह, अर्चना पाण्डेय, मीनाक्षी सांगानेरिया, विनोद लाल, विनय मिश्र, हेमंत सिंह, पार्वती साव, प्रभा उपाध्याय आदि शोधार्थी और विद्यार्थी भी उपस्थित थे जिन्होंने विचार विमर्श में बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया।

प्रस्तुति : परमजीत कुमार पंडित

केंद्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

शिक्षणपरक कार्यक्रम : (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम : (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास : (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत

अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com

directorofkhs@yahoo.co.in

उस पार से...

गिरिजाकुमार माथुर
(२२ अगस्त १९१९-१० जनवरी १९९४)



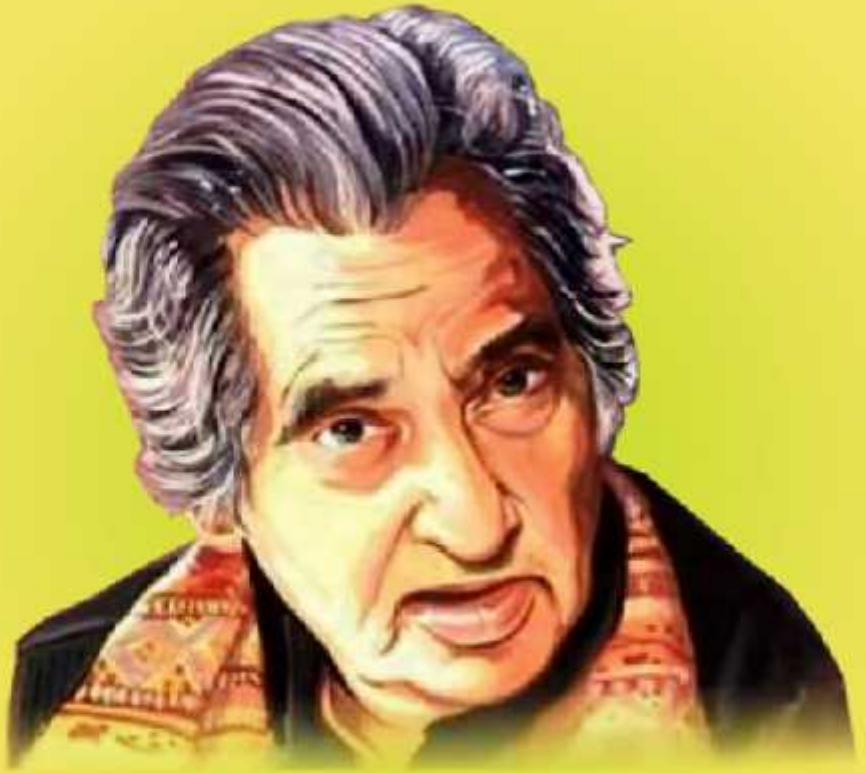
छाया मत छूना

छाया मत छूना
मन, होगा दुख दूना।
जीवन में हैं सुरंग सुधियाँ सुहानी
छवियों की चित्र-गंध फैली मनभावनी :
तन-सुगन्ध शेष रही, बीत गयी यामिनी,
कुन्तल के फूलों की याद बनी चाँदनी।
भूल-सी एक छुअन बनता हर जीवित क्षण
छाया मत छूना
मन, होगा दुख दूना।

यश है या न वैभव है, मान है सरमाया,
जितना ही दौड़ा तू उतना ही भरमाया।
प्रभुता का शरण बिम्ब केवल मृगतृष्णा है,
हर चन्द्रिका में छिपी एक रात कृष्णा है
जो है यथार्थ कठिन उस का तू कर पूजन
छाया मत छूना।
मन, होगा दुख दूना।

दुविधा हत साहस है, दिखता है पन्थ नहीं,
देह सुखी हो पर मन के दुख का अन्त नहीं।
दुख है चाँद खिला शरद रात आने पर,
क्या हुआ जो खिला फूल रस वसन्त जाने ?
जो न मिला भूल भुले तू भविष्य वरण,
छाया मत छूना।
मन, होगा दुख दूना।

RNI NO. WBHIN/2014/70173
POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020



हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई,
शिवगं, ५० सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं ६/२/१ आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालफिया, हावड़ा-७१११०६ से प्रकाशित ।

सम्पादक : डॉ. भीरा सिन्हा